श्रीदक्षिणामूर्तये नमः

आपस्तम्बीय

अध्यात्मपटल

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ

श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज

आचार्य महामण्डलेश्वर

द्वारा

श्रीविश्वनाथ संन्यासाश्रम, दिल्ली में

संवत् २०५४ में दिये गये

प्रवचन

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन

वाराणसी

श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला - ६७

श्रीदक्षिणामूर्तये नमः

आपस्तम्बीय

आध्यात्मपटल

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ

श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज

आचार्य महामण्डलेश्वर

द्वारा

श्रीविश्वनाथ संन्यासाश्रम, दिल्ली में

संवत् २०५४ में दिये गये

प्रवचन

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन

डी. ४९/९ मिश्र पोखरा, वाराणसी-२२१०१०

प्रकाशक
श्री दक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन
डी. ४९/९ मिश्र पोखरा, वाराणसी - २२१०१०

❑

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

❑

संवत् - २०६७
शङ्कशब्द - १२२२
ईस्वी - २०१०

❑

मूल्य : ८०=०० (अस्सी रुपये मात्र)

❑

मुद्रक
श्रीजी प्रिन्टर्स
जे. 12/5, नाटी इमली, वाराणसी
फोन : 0542-2201104, 3257329
ई-मेल : shrijeeprint@gmail.com
: shrijeeprint@sify.com

ॐ

प्रकाशकीय

अध्यात्म साधना के कठिन क्रम का पालन कर पाने के लिए आवश्यक है विचार-पूर्वक उन बाह्य-आभ्यन्तर आचारों का ठीक-ठीक ज्ञान अर्जित करना जिनके पालन से इस मार्ग पर प्रगति सम्भव है। प्रतिदिन प्रार्थना करते हैं 'य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु' अर्थात् वेदान्तों में विहित धर्मों का मुझसे आचरण हो। इसके लिए उन धर्मों की जानकारी चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी गीता में ऐसे धर्म प्रकाशित किये हैं। इसी तरह महर्षि आपस्तम्ब ने **'अध्यात्मपटल'** के अन्तर्गत मुमुक्षुओं के उपयोगी कर्त्तव्यों का वर्णन किया है। इस सूत्रात्मक ग्रन्थ का एक व्याख्यान मिलता है जो आचार्य श्रीशंकर द्वारा रचित कहा जाता है किन्तु इस बारे में आलोचकों में मतभेद भी है। सिद्धान्त की दृष्टि से उस व्याख्या में वेदान्तविरुद्ध कुछ न होने से रचयिता जो कोई भी हो, ग्रन्थ श्रद्धेय ही है। इसी भाव से आचार्य महामण्डलेश्वर **श्री स्वामी महेशानन्द गिरि जी** महाराज ने प्रायः तेरह वर्ष पूर्व इस ग्रन्थ की प्रवचनात्मक व्याख्या की थी जो छपवाकर श्री मेहता चैरिटेबल प्रज्ञालय ट्रस्ट, दिल्ली, ने वितरित की थी। इधर काफी समय से वह संस्करण सुलभ न होने से श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन उसे प्रकाशित कर रहा है ताकि जिज्ञासुजनों को यह पथ-प्रदर्शक ग्रन्थ सुलभ बना रहे।

ॐ

।। श्रीदक्षिणामूर्तये नमः ।।

अध्यात्मपटल

प्रवचन-१

वैदिक धर्म बतलानेवाले दो महर्षि हुए—आपस्तम्ब व बोधायन। महर्षि आपस्तम्ब के धर्मशास्त्र के पहले अध्याय के आठवें परिच्छेद का विचार करेंगे। इसके पूर्व के परिच्छेदों में यज्ञादि का वर्णन किया है। यहाँ से अध्यात्मपटल प्रारम्भ किया है, आत्मा के बारे में विचार करा है। भाष्यकार आचार्य शंकर ने इस पर विस्तृत भाष्य लिखा है। अध्यात्मपटल का प्रारंभिक वाक्य है—

'अथ अध्यात्मिकान् योगाननुतिष्ठेत् न्यायसंहिताननैश्चारिकान्' ।।१।।

'अथ' मायने अब। **'अध्यात्मिकान्'**—आत्मानम् अधिकृत्य अध्यात्मम् —आत्मा को सामने रख कर जो विचार किया जाता है वह हुआ अध्यात्म।

आत्मा क्या है—यह जानना भी मुश्किल है। आत्मा मायने क्या ? जिसे हिन्दी में 'मैं' कहते हैं, 'मैं' शब्द से जिसे कहते हैं वह आत्म है। 'मैं' है सर्वनाम। सर्वनाम किसी न किसी संज्ञा के लिए आता है। सर्वनाम किसी एक का नाम नहीं। संज्ञा तो किसी एक का नाम हुआ, जैसे गोपीनाथ एक का नाम हुआ, चन्द्रभान एक का, कैलास, कृष्णा इत्यादि। ये एक एक के नाम हुए। चन्द्रभान अपने को कोहली नहीं कह सकता, कैलास अपने को कृष्णा नहीं कह सकती। कृष्णा को पूछते हैं 'तुम वहाँ गई थी ?' कहती है 'हाँ मैं वहाँ गई थी।' गोपीनाथ से कहते हैं 'तुमने वहाँ फिर बोलना शुरू कर दिया ?' कहता है 'मैं नहीं बोला।' संज्ञा हुआ उस व्यक्ति का नाम। सारे व्यक्तियों को कहने वाला है सर्वनाम। 'मैं' सर्वनाम हुआ, उससे संबद्ध संज्ञा क्या ? वह जिसके लिए आया उसी को आत्मा कहते हैं। सामान्य भाषा में उसे *खुद* या *स्वयं* भी कहते हैं। कृष्णा खुद वहाँ गई थी, स्वयं गई थी। उस *मैं* के बारे में विचार आत्मा का विचार है।

मैं का प्रारम्भ कहाँ से है ? शरीर से। जहाँ 'मैं' का विचार आया वहाँ आरंभ किया अन्नमय से। अन्नमय अर्थात् शरीर से प्रारम्भ कर ब्रह्म तक गये। जब कहते हैं 'मैं ब्राह्मण हूँ' तो शरीर को ब्राह्मण कहते हो। यह शरीर ब्राह्मण है, चाहे कितना भी गया बीता ब्राह्मण है। अखाद्य खाता हो पर शरीर से ब्राह्मण ही है, अनुभव करता है 'मैं ब्राह्मण।'

कभी 'मैं' से प्राण को कहते हो, 'मैं ताकतवाला हूँ। आजकल मुझे बहुत भूख लगती है। अथवा मैं कमजोर हो गया हूँ।' भूख लगना, कमजोर होना यह सब प्राण का स्वभाव है। इसी प्रकार मन बुद्धि भी मैं हैं। जब वेद बाँचते हो—'अहं ब्रह्म'। मैं से वेद को कहते हो, ब्रह्म को कहते हो। *परमात्मा* शब्द सब बोलते हैं, अतः उसे भी आत्मा जानते हैं। शरीर से लेकर ब्रह्मपर्यन्त सारे के सारे विचार मैं को लेकर होने से यह विवेचन अध्यात्म हुआ।

अध्यात्मपटल का उपक्रम करते हुए कहा—**अथ** बाद। किसके बाद? किसी भी चीज़ के बारे में विचार करने के लिये तुम्हें उसके बारे में कुछ पता होना चाहिये। जिस चीज़ के बारे में कुछ पता नहीं होगा, तो क्या उस चीज़ के बारे में कोई विचार करोगे ? अतः जब किसी चीज़ के बारे में कुछ नहीं जानते तब उस पर विचार नहीं कर सकते। जिस चीज़ के बारे में पूरा ज्ञान हो गया हो उस पर भी विचार नहीं कर सकते। हाथ में पका आँवला है, खाने लायक—उसका क्या विचार करोगे? जिस चीज को जानते हो पर अच्छी तरह नहीं, उसका विचार किया जा सकता है। अथ मायने जिसने आत्मा को थोड़ा जान लिया हो और उसके बाद अधिक जानना चाहे।

जानना कई तरह से होता है। जैसे—हम छत पर गये। दक्षिण की तरफ धुआँ उठते देखा तो जान लिया कि आग लगी है। थोड़ा ज्ञान हो गया। पर दरियागंज में लगी है या चांदनी चौक में यह पता नहीं है। तब दूसरे से पूछते हो 'क्या बात है ? कहाँ लगी है आग ?' यदि कमरे में बैठे हो तो ज्ञान नहीं होता। धुआँ देखा तो ज्ञान हुआ—परोक्ष ज्ञान हुआ। आगे जिज्ञासा होती है—कहाँ लगी ? कैसे लगी इत्यादि ?

जिसे आत्मा के विषय में परोक्ष ज्ञान तो है पर अपरोक्ष ज्ञान नहीं, वही जिज्ञासा कर सकता है। आत्मा का परोक्ष ज्ञान दो प्रकार से हो सकता

है। आत्मा को मैं कहते हैं। मैं कुछ जानता है, कुछ करता है। चेतन के तीन धर्म हैं—ज्ञान, इच्छा, क्रिया; इच्छा ज्ञान नहीं है। प्रश्न होता है—क्यों नहीं है ? सामने घड़ा रखा है। तुमने आँख से देखा। इसका नाम ज्ञान है। सामने घड़े को देखा। देखकर सोचा कि 'यह सोने का घड़ा मैं उठा कर ले जाऊँ'—यह इच्छा हुई। ज्ञान तो जैसा घड़ा है वैसा आँख के अधीन हुआ, वैसा जाना। परन्तु उसको इच्छा का विषय तुमने बनाया। 'यह घड़ा मेरा हो जाये', यह इच्छा तुमने की।

एक बार सत्संगी पति-पत्नी कहीं जा रहे थे। दोनों विचारशील थे, भक्त थे। भारतीय परम्परा के अनुसार आदमी आगे चलता है और पत्नी पीछे। अकस्मात् आदमी ने देखा कि एक मोहरों का थैला पड़ा है। उसने सोचा कि कहीं उसकी पत्नी का मन न आकृष्ट हो जाये तो उसने उस पर मिट्टी डाल कर उसे ढाँक दिया। पत्नी ने पूछा 'क्या कर रहे हो ?' वह बोला 'सोना देखकर तेरी नियत न डोल जाये इसलिये मिट्टी से ढाँक रहा हूँ।' पत्नी ने कहा 'इतने साल का सत्संग करा है फिर भी मिट्टी और सोने में फर्क लग रहा है ?' सोने का ज्ञान तो सब को एक-सा होगा पर अविवेकी को उसकी ओर आकर्षण अर्थात् इच्छा हो जायेगी। जो विचारशील होगा उसे उपेक्षा बुद्धि होगी। जैसे सोने के घड़े में पानी भरते हो वैसे ही मिट्टी के घड़े में। हम चाँदी को शुद्ध मानते हैं तो उसमें पानी पीते हैं। साथ के महात्मा कुल्हड़ में चाय पी लेते हैं। हम चाँदी में पीते हैं तो होंठ जलते हैं ! इष्ट-बुद्धि चीज़ को लेकर नहीं है। बाकी समय तो चाँदी का गिलास अच्छा लगता है पर चाय पीते समय कुल्हड़ ही ठीक है।

वस्तुतः इच्छा क्रियारूप है। मन ज्ञान का भी साधन है और कर्म का भी। मन जब कर्म करता है तब इच्छा है। अतः इच्छा का कर्म में, क्रिया में अन्तर्भाव है। इस प्रकार ज्ञान और कर्म करना जीव का स्वरूप है। ज्ञान व इच्छा के इस भेद को न समझने के कारण लोग समझते हैं कि हम भगवान् का ज्ञान करें या ध्यान करें—एक ही बात है। भगवान् का ज्ञान तो जैसे भगवान् हैं वैसा ही होगा। ध्यान हम जैसा चाहें वैसा कर सकते हैं। भगवान् के जिस रूप में प्रेम होगा वैसा ध्यान करते हैं। सामने शालग्राम की बटिया पड़ी है। ज्ञान शालग्राम का होगा पर ध्यान विष्णु का करोगे। सामान्य रूप से यह फर्क पता नहीं लगता है।

'मैं' मायने जानने वाला व करने वाला। जो जानने वाला है, करने वाला है वह 'मैं' कौन है ? जब यह जिज्ञासा होगी तब अध्यात्म शास्त्र में प्रवृत्ति होगी। जब तक यह जिज्ञासा नहीं होगी तब तक अध्यात्म में प्रवृत्ति नहीं होगी। लोग चंद्रमा व मंगल पर जाने की बात तो करते हैं परन्तु अपने विषय में विचार नहीं करते। इसलिये कहा 'अथ'—अनन्तर। किसके अनन्तर ? आत्मा के परोक्ष ज्ञान के अनंतर। जानने वाला, करने वाला मैं हूँ—यह बात तो पता है पर मैं हूँ कौन यह पता नहीं। तभी जिज्ञासा हो सकती है। सामान्य रूप से हम लोग जिस 'मैं' को जानते हैं उसका रहस्य क्या है ? इस बात को समझकर सचमुच में 'मैं' कौन हूँ ?—यह जिज्ञासा जिसे होती है, वही इसको समझने का अधिकारी है। जो बाह्य विषयों को ही जानना चाहते हैं उनके लिये यह कार्यकारी नहीं। ज्ञान के प्रति ज्ञान की इच्छा भी एक कारण होती है।

'यह विजय है' यह ज्ञान है। परन्तु उसे और भली प्रकार से जानने की, समझने की इच्छा का होना जरूरी है। जब हम किसी मोटर को चलते देखते हैं, तब हमें पता है कि इसमें तीन हिस्से होंगे। एक हिस्सा वह है जिसे शरीर कहते हैं—बैठने की जगह, दरवाजे, पहिये इत्यादि। अंग्रेजी में उसे 'body' कहते हैं। यह मोटर का बाह्य स्वरूप है। चाहे जितनी चमकती मोटर हो परन्तु अन्दर यंत्र न हो, तो वह चल नहीं सकती। ये दोनों परस्पर सापेक्ष हैं—एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं। शरीर, 'body' न हो तो यंत्र चलायेगा किसे ? शरीर के बिना मोटर चले तो जैसे पानी का पंप चलता है पर कहीं जाता नहीं है ऐसे वह भी एक स्थान पर ही रहेगी। गाड़ी का बाह्य शरीर तो हुआ चलने वाला और उसे चलाने वाला हुआ इंजन जो कि दीखता नहीं है। चलाने वाला यंत्र भी बढ़िया हो और बाहर का हिस्सा 'body' भी नया हो—परन्तु इतने भर से गाड़ी चलेगी नहीं। उसे चलाने के लिये डीजल अथवा पेट्रोल की आवश्यकता होती है। चाहे जैसी भी गाड़ी हो, यदि उसमें पेट्रोल नहीं होगा तो वह चलेगी नहीं। स्कूटर, मारुति, ट्रक सभी में एक जैसा ही पेट्रोल या डीजल पड़ता है। यंत्र एवं शरीर सबके अलग-अलग होते हैं परन्तु सबको चलाने वाला पेट्रोल एक ही है।

ठीक इसी प्रकार जो हमें बाहर का शरीर दीख रहा है, यह तो है चलने वाला। अन्दर चलाने वाला कोई दूसरा है। कुछ दिन पूर्व किसी को लकवा

हो गया था। वह व्यक्ति जवान था। उसके पैर देखने में एकदम लाल, चमकते हुए थे, परन्तु वह हिल नहीं सकता था। इससे निश्चित है कि अन्दर चलाने वाला कोई और है। आँख सुन्दर है, परन्तु दीखता नहीं; कान सुन्दर है, परन्तु सुनता नहीं; अन्दर जो यंत्र बैठा है वह दीखता नहीं है परन्तु उसका कार्य दीखता है। चलने, देखने, सुनने रूप कार्यों से पता चलता है कि यंत्र ठीक है। यंत्र को ताकत देने के लिये ऊर्जाप्रद (energy supplier) चाहिये और वह है हमारा कारण शरीर। परमेश्वर एक है। हमको किस कर्म का फल कब भोगना है, कब किसके अनुरूप फल प्राप्त कराना है, यह सब निर्णय करना उसका काम है। कारण शरीर अविद्या से विशिष्ट चेतन एक है।

परमेश्वर कारण कब बनता है ? पेट्रोल गाड़ी तब चलाता है, जब उसे भरा जाये। परमेश्वर कारण शरीर तब बनेगा जब हमारा कर्मफल देना हो। जब हमारा कोई कर्म फल देने वाला नहीं तब वह सुषुप्ति की अवस्था में होता है। सुषुप्ति काल में न देखता है, न सुनता है, न चलता है। अतः सुखस्वरूप परमेश्वर से एक हो जाता है। एक हो गये तो मुक्ति होनी चाहिये? 'तमोभिभूतः'—एक तो हो गये परन्तु तुम्हारा अज्ञान वहाँ बैठा है। परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त करने से और उस सुखरूपता को परमेश्वर के साथ एक जानने से मुक्त हो जाते हैं। जाग्रत् में फलप्रद कर्म फलोन्मुख होते हैं तो पुनः जाग्रत् अवस्था में आने पर फल देते हैं। इसी प्रकार प्राणिमात्र के लिये परमेश्वर [illegible] तक कारण है जब तक ज्ञान नहीं हो जाता। जब अज्ञान नष्ट हो जाता है, कोई कर्म फल देने वाला नहीं होता तब परमेश्वर कारण शरीर नहीं रहता। इसी से मुक्ति होती है। शुद्ध परमेश्वर कारण शरीर नहीं है। जब तक अज्ञान है तब तक ही कारण शरीर है। ज्ञान होने पर वह तुम्हारा ही स्वरूप है।

स्थूल शरीर के अन्दर सूक्ष्म शरीर होता है। पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, चार अंतःकरण और प्राण—ये पन्द्रह चीजें हैं जो मुख की तरह हैं। जो भी मुँह में डालोगे पेट में जायेगा। शरीर को पुष्ट करने के लिये एक मुख है। उसी प्रकार जीवभाव को चलाने के लिये पन्द्रह मुख हैं। आँख से देखते हैं रूप को—तो आँख रूप मुख से जो खाया उसका संस्कार मन में रह गया। इसी प्रकार कान रूप मुख से शब्द को सुना और उसका संस्कार

मन में रह गया। इस प्रकार से रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द को इन्द्रियों के द्वारा हम ग्रहण करते हैं और उनका संस्कार हमारे मन में रह जाता है। कर्मेन्द्रियों से जो कर्म करते हैं उसके फल भी अन्दर जाते हैं। जैसे सर्दी के मौसम में किसी गरीब को दुःखी देख कम्बल दे दिया। इसके द्वारा उत्पन्न पुण्य एक साल बाद अथवा अगले जन्म में फलेगा। फल तो उस पुण्य कर्म का जरूर मिलेगा। शुभ व अशुभ कर्म अपना फल तो अवश्य देते हैं। साथ ही साथ इन कर्मों का संस्कार भी मन में बैठ जाता है। ज्ञानेन्द्रियों से तो केवल संस्कार रह जाता है, परन्तु कर्मेन्द्रियों से फल व संस्कार दोनों होते हैं।

अन्तःकरण ज्ञानेन्द्रिय भी है व कर्मेन्द्रिय भी। अतः मन से जो सोचते हो-उसका संस्कार तो पड़ेगा ही पर साथ ही साथ वह फल भी देगा। करते चाहे कुछ नहीं, सिर्फ सोचते हो। 'नरसिंह राव ने पैसा खाया'--सोचते हो कि चोर है। पता लगाया नहीं कि वास्तव में सच क्या है व झूठ क्या है। अतः दूसरे का बुरा सोचने से पाप लगेगा ही। यह सब तब तक कर पाते हो जब तक प्राण है। आँख से देखते हो। कब तक ? जब तक प्राण है। अर्थात् जब तक प्राण आँख की मदद न करे तब तक देख नहीं सकते। प्राण एक कारण है जिसकी सहायता के बगैर जीवभाव को चलाने के लिये जो मुख बतलाये हैं वे अपना अपना कार्य नहीं कर सकते। समझ लो किसी ने किसी को गोली मारी। अब बन्दूक यदि हमने दी होगी तो उसके पकड़े जाने के साथ साथ हम भी पकड़े जायेंगे। गोली हमने नहीं मारी परन्तु फिर भी हम पकड़े जायेंगे। इसी प्रकार प्राण स्वयं कुछ करता नहीं। वह इन्द्रियों को ताकत देता है इसीलिये उसे भी मुँह कहा गया है।

महर्षि सनत्कुमार देवर्षि नारद से कहते हैं—आहार शुद्धि से सत्त्वशुद्धि होती है 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'। आचार्य शंकर कहते हैं कि केवल भोजन त्यागने से भगवान् के यमरूप का ही दर्शन होगा क्योंकि यदि भोजन करना छोड़ दोगे तो मृत्यु को ही प्राप्त होगे ! अतः वे कहते हैं कि जो कुछ भी पन्द्रह मुखों के द्वारा ग्रहण करते हैं वह भी भोजन ही है। वे आगे कहते हैं कि जब इन मुखों से कुछ ग्रहण न किया जाये तब काम बनेगा आहारशुद्धि से सत्त्वशुद्धि का।

शरीर को तीन प्रकार का कहा गया है। स्थूल शरीर—जो दीख रहा

है। सूक्ष्म शरीर--जो अन्दर रहकर इस स्थूल शरीर को चला रहा है। कारण शरीर—भगवान् का अविद्या से आवृत स्वरूप जो यह सब करवा रहा है। परमात्मा के बिना कभी कुछ हो नहीं सकता।

स्थूल शरीर महाभूतों से उत्पन्न हुआ है। अन्दर का सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म महाभूतों से उत्पन्न हुआ है। मनुष्य के अन्दर पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। हमारे पास और कोई साधन नहीं है कि छठी इन्द्रिय के विषय का अनुभव होवे। रूप का अनुभव अग्नि से होता है। रस का अनुभव जल से। स्पर्श का अनुभव जिससे होता है उसे वायु कहते हैं। गन्ध है पृथ्वी में, जब साँस लोगे तब गन्ध आयेगी। इस प्रकार ये सब एक दूसरे को मदद देकर कार्य करते हैं। शब्द आकाश का गुण है, परन्तु उसे ग्रहण करने के लिये वायु रूप निमित्त चाहिये। गन्ध पृथ्वी में रहती है। परन्तु उसे ग्रहण करने को जो निमित्त चाहिये वह वायु ही है। इस प्रकार रूप, रस, गन्ध, शब्द व स्पर्श जहाँ रहते हैं वे स्थूल महाभूत हैं। जो अन्दर स्थित सूक्ष्मभूत हैं वे दीखते नहीं परन्तु इनकी क्रियाओं को देखकर इनकी उपस्थिति का ज्ञान होता है। स्थूल महाभूतों को इन्द्रियों से जानते हैं। सूक्ष्म महाभूतों को अन्दर की क्रियाओं से जानते हैं। कारणशरीर अविद्या-विशिष्ट परमात्मा है। इस स्थूल-सूक्ष्म-कारण विशिष्ट स्वरूप को हम देखते तो रात-दिन हैं परन्तु वह अन्दर चलाने वाला कौन है ?—यह जिसे जिज्ञासा होवे वह अध्यात्मशास्त्र का अधिकारी है।

प्रवचन-२

अध्यात्मिक स्थूल सूक्ष्म कारण शरीर से युक्त अपने को सब जान रहे हैं। अतः आत्मा सर्वथा अज्ञात नहीं है। इसीलिये इसको जानने की जिज्ञासा होती है। सर्वथा जिस चीज को नहीं जानते उसकी जिज्ञासा नहीं होती। और जिस चीज़ को पूर्ण रूप से जान लिया उसकी भी जिज्ञासा नहीं होती। जैसे—यदि हमने इंदिरा का नाम कभी नहीं सुना तो उसे जानने की जिज्ञासा हमें नहीं होगी। यदि हम यह कहें कि 'इन्दिरा रोज सवेरे मन्दिर आती है', तो तुम्हें जिज्ञासा हो सकती है कि इन्दिरा कौन है ? क्या करती है? इत्यादि क्योंकि इन्दिरा के बारे में तुम्हारा ज्ञान केवल इतना है कि वह रोज मन्दिर आती है। अर्थात् तुम्हारा ज्ञान इन्दिरा के बारे में पूर्ण नहीं है। सामान्य रूप से किसी चीज को जान लिया गया परन्तु विशेष रूप से नहीं, तब जिज्ञासा होती है। आत्मा को सामान्य रूप से जान लिया तब उसे और भली प्रकार जानने की, समझने की जिज्ञासा होगी। सामान्य रूप से तो हुआ शरीर—मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं गोरा हूँ अथवा काला हूँ, गन्ता मन्ता द्रष्टा हूँ आदि। इन सबको करने वाला जो 'मैं हूँ' उसका स्वरूप क्या है—यह नहीं जान रहे हैं। इसको जानने का जो *योग* है वह हुआ 'अध्यात्मिक योग।'

योग किसे कहते हैं ? योग के भिन्न-भिन्न अर्थ आते हैं। योग का एक अर्थ होता है किसी चीज के साथ युक्त होना। गणित में दो और दो का योग चार होता है। अर्थात् चार में दो और दो मिलकर एक हो गये। इसी प्रकार जिस आत्मा का हमें सामान्य ज्ञान है उसका जो विशेष रूप है, उसके साथ एक हो जाना योग है। उसमें प्रतिष्ठित होने के लिये जो भी साधन हैं वह करे।

शंका होगी : 'अयम् आत्मा ब्रह्म'—यह आत्मा ब्रह्म है यह उपदेश सुना तो योग हो गया। हम कहते हैं 'तुम देवदत्त हो'। तुमने भी अपने को देवदत्त जान लिया। फिर अनुष्ठान क्या करना है ? समाधान है कि वेद कहता है 'अयम् आत्मा ब्रह्म' लेकिन यह जानने के बाद संदेह होता है कि क्या सचमुच ऐसा है ? चाहे तुम्हें हम पर पूरी श्रद्धा है परन्तु हम यह कहें कि

यह जेठ का महीना है तो तुम सोचोगे कि मार्गशीर्ष के महीने को ये जेठ का कैसे कह रहे हैं ! इसी प्रकार वेद में पूरी श्रद्धा रखते हैं। वेद कहता है ब्रह्म सृष्टि, स्थिति, लय करने वाला है। तुम भी बच्चे पैदा कर लेते हो। परन्तु यह भी तुम्हारे हाथ में नहीं है। कोई लाख कोशिश करता रहता है परन्तु बच्चा होता नहीं है, किसी को हो जाता है। इसी प्रकार हम जितने भी काम करते हैं, निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते कि यह काम सफल होगा कि नहीं। घर से आश्रम के लिये निकलते हो ताकि ७:३० बजे कथा में पहुँच जाओ। रास्ते में ट्रैफिक जाम मिलता है तो पहुँचते-पहुँचते आठ बज जाते हैं। कभी-कभी देर से निकलते हो परन्तु रास्ता साफ होने के कारण सवा सात ही पहुँच जाते हो। हमें कहा जा रहा है कि सृष्टि स्थिति लय करने वाला ब्रह्म है और वह तुम ही हो। जिसको इस बात पर श्रद्धा होगी वह जिज्ञासा करेगा, विचार करेगा। जब मनुष्य को श्रद्धा होती है तब उसे संशय होता है कि 'यह कहने से इनका क्या मतलब है'। वह विचार करता है। हमने कहा यह जेठ का महीना है। अब यदि हम पर श्रद्धा वाला होगा तो विचार करेगा कि जेठ क्यों कहा। विचार करेगा कि इस मार्गशीर्ष माह में भगवान् ने गीता का उपदेश दिया था। अतः यह माह श्रेष्ठ है और इसीलिये ज्येष्ठ है। **'न्यायसंहितान्'** न्यायपूर्वक विचार करेगा तभी यह बात समझ में आयेगी अन्यथा नहीं।

न्यायपूर्वक विचार का अर्थ है—ठीक से समझना। वेद के अर्थ को जब हम अच्छी तरह से, ठीक तरह से समझ लेते हैं तब वेद जो कह रहा है वह क्या है इसके बारे में संदेह नहीं होता क्योंकि उस पर विचार कर चुके हैं। जो केवल ख्याली पुलाव पकाता है वह कभी प्रतिष्ठित नहीं होता है, किसी निर्णय पर नहीं पहुँचता है। मनु ने कहा है कि जो विषय ऐसे हों कि तुम्हारे इन्द्रियादि के विषय नहीं हैं उनको तर्क से सोचने का प्रयत्न नहीं करो। वेद के अर्थ को तर्कपूर्वक समझने को आपस्तम्ब महर्षि ने *न्याय* कहा है। एक त्रिकोण के तीनों कोणों को मिलाकर १८० अंश हुआ करते हैं। रेखागणित का सवाला आता है तो उसमें जवाब दिया होता है। प्रश्न आता है कि एक त्रिकोण के तीनों कोणों का योग १८० अंश होता है—इसे प्रमाणित करो। उत्तर को जान इसे युक्ति से सिद्ध करना होता है कि तीनों कोणों का योग १८० अंश है। प्रमाणित करने से निश्चय होता है। जवाब पता है, उसे सिद्ध करना है। ठीक इसी प्रकार यहाँ पर वेद से पता चल

गया कि—'अयम् आत्मा ब्रह्म' अब उसे प्रमाणित करना है। एकमात्र परमात्मा के अतिरिक्त कुछ नहीं है। आगे युक्ति करनी है। यह पहला साधन बताया।

प्रमाणित करने के बाद कहा—**'अनैश्चारिकान्'**—विषय इन्द्रियों को खींच कर बाहर ले जाते हैं। इन्द्रियाँ अपने साथ मन को खींच कर बाहर ले जाती हैं। मन यदि इन्द्रियों की तरह खिँच कर न जाये तब तो होगा 'अनैश्चारिकान्'—अर्थात् अनात्मा में चरण न करें। विषयों का जोर होता है—यह सच है। परन्तु जब यह निश्चय हो जाये कि ये सच्चे नहीं हैं तब उनकी खींचने की ताकत नष्ट हो जाती है। देवदत्त हमारे पास आता है। हम कहते हैं 'तुम आ गये। तुम्हारा लड़का दुर्घटनाग्रस्त हो गया। पर अब वह ठीक है।' तो वह पूछता है 'कब हुआ ?' हम कहते हैं, 'आधा घंटा पूर्व।' यह सुनकर उसका मन खिन्न हो जाता है और वह जाने को तैयार हो जाता है। पर फिर सब बतलाते हैं कि यह तो गलत बात थी, केवल मजाक था। यह सुनकर वह हँस कर बैठ जाता है। अर्थात् जब तक उसने दुर्घटना की बात को सत्य माना तब तक वह दुःखी रहा। परन्तु जब उसे उस बात की असत्यता का आभास हुआ वह फिर प्रसन्नचित्त हो गया। ठीक इसी प्रकार हमें ये विषय सत्य लग रहे हैं। जब तक ये हमें सत्य लगते हैं। तब तक हमें खींच रहे हैं। जब उनके मिथ्यात्व का निश्चय हो जाता है तब वे खींच नहीं सकते। तत्पश्चात् साधक आत्मरूप में स्थिर हो जाता है।

अभी तक दो बातें बतलायीं—एक तो युक्ति के द्वारा ब्रह्म के विषय में निश्चय करना और दूसरा संसार के विषयों के मिथ्यात्व का निश्चय करना ताकि वे खींच न सकें। अभी संक्षेप में बतलाया। आगे बतलायेंगे कि अक्रोधादि के द्वारा विषयों में चरण को कैसे रोका जाये। राग द्वेष आदि सब हमें सत्य लगते हैं और जब तक ये हमें सत्य लगते हैं तब तक हमें अपनी ओर खींचते हैं। परन्तु जब निश्चय हो जाये कि ये मिथ्या हैं तब चाहे कितना ही इन्द्रियों से व्यवहार करो फिर भी तुम अपने आत्मरूप में स्थित रहते हो। यह 'अनैश्चारिकान्' से बताया।

जो चीज तुम्हारे पास नहीं हो, उसकी कामना को ही पुरुषार्थ कहा जाता है। तुम्हारे पास बाप दादा का धन है। कोई कहता है 'कुछ काम

कर लो, अपना घर बना लो।' तो कहते हो 'घर तो बना हुआ है, यह मेरा घर ही तो है। मेरा काम तो हो जायेगा।' यह कमाना तो हुआ नहीं। स्वयं बनाओ तो पुरुषार्थ होवे। इसी प्रकार संसार में धन, सम्पत्ति, मकान, फोन, कार इत्यादि इन सब को कमाने का पुरुषार्थ करो। लेकिन वास्तव में क्या यह पुरुषार्थ हुआ ? पुरुषार्थ किसे कहते हैं ? तो कहा—

'आत्मलाभान्न परं विद्यते।।२।।'

पुत्र वित्तादि लाभ की अपेक्षा सबसे श्रेष्ठ है आत्मलाभ। श्रेष्ठ चीज की प्राप्ति होने पर कनिष्ठ चीजों की प्राप्ति स्वतः मान ली जाती है। आत्मलाभ से श्रेष्ठ कुछ नहीं है। क्यों नहीं है ? सब चीजें किसके लिये चाहिये ? अपने लिये। अब यदि अपने अन्दर हो रहे सृष्टि स्थिति लय का तुम्हें ज्ञान हो जाये; इस आत्मा की ब्रह्मरूपता का पता लग जाये तो संसार के पदार्थ तुम्हारी किरण का भी एक हजारवाँ हिस्सा हो जाता है। यह जो आत्मा के अन्दर होने वाला ब्रह्मानन्द है उसकी एक बूँद से भी छोटे हिस्से से ब्रह्मा आदि सुखी हो जाते हैं। इसीलिये कहा आत्मलाभ सबसे श्रेष्ठ है।

ख्याल रखने की बात है कि दो तरह से प्राप्ति होती है। एक तो जो अपने से अलग चीज है, वह प्राप्त हो जाये। दूसरी—जो है हमारे पास लेकिन हमसे छिपी है। वह मिल जाये, उसका ज्ञान हो जाये। जो चीज हमसे अलग है उसकी प्राप्ति को प्राप्ति नहीं कह सकते। चंचला चपला लक्ष्मी कभी भी एक के पास नहीं रहती है। कलकत्ते में चार चीजें हमने देखीं। पहले बंगालियों के पास बहुत धन था। अभी भी बड़ी-बड़ी कोठियाँ हैं। फिर ईरानी आये तो उनका व्यापार बढ़ा। उनकी भी पुरानी चीजें दीखती हैं। अंग्रेजों के आने पर पारसियों का व्यापार बढ़ा। अब मारवाड़ी जमे हैं। देखते देखते वह लक्ष्मी बंगालियों से ईरानियों के पास आ गई, फिर ईरानियों से पारसियों के पास और वहाँ से मारवाड़ियों के पास। जो सचमुच लक्ष्मी को जानता है वह यही कहता है कि यह तो विष्णुपत्नी है। कहीं भी जाओ, लक्ष्मी है तो विष्णु की ही।

ठीक इसी प्रकार हमारी जो अविद्या शक्ति है वह हमें कभी कहीं, कभी कहीं नजर आती है। पर है तो यह हमारी आत्मशक्ति ही। कभी हमें आँख की शक्ति लगती है, कभी नाक की, कभी कान की इत्यादि पर सचमुच

में यह शक्ति हमारी है। भ्रम से दूसरों में दीखती है। जैसे लक्ष्मी विष्णुपत्नी होने पर भी दूसरों के पास दीखती है परन्तु सचमुच में है विष्णु की ही। विष्णु तो भगवान् हैं और वे अपनी शक्ति को जानते हैं। उसके विपरीत शक्ति तो हमारी है परन्तु हम जीव उसे जानते नहीं हैं। इस प्राप्त की प्राप्ति को आत्मलाभ कहा है। हमें अपनी शक्ति का स्वयं पता लगाना है। अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करने वाले उस आत्मरूप में प्रतिष्ठित होना है।

'तत्रात्मलाभीयान् श्लोकानुदाहरिष्यामः।।३।।'

इस ब्रह्म को जानने से आत्मलाभ हो जाता है। अब हम विस्तार से उसकी प्राप्ति के साधनों का वर्णन करेंगे। यह प्रतिज्ञा करते हैं।

'पूः प्राणिनः सर्व एव गुहाशयस्याहन्यमानस्य विकल्मषस्य।

अचलं चलनिकेतं येऽनुतिष्ठन्ति तेऽमृताः।।४।।'

'पूः' इस शरीर को कहते हैं। पूः मायने पुर अर्थात् शरीर। सारे के सारे प्राणी किसी न किसी शरीर में रहेंगे। यह शरीर भोगायतन है। भोग करने का जो मकान हो वह भोगायतन। शरीर के बिना कोई भोग संभव नहीं है। शरीर कहीं प्रधान होता है पृथ्वी को लेकर जैसे मनुष्यों का शरीर, कहीं जल तत्त्व को लेकर प्रधान होता है जैसे जलीय प्राणी आदि। कहीं अग्नि तत्त्व प्रधान होता है। लोग सोचते हैं कि जल वायु के बिना शरीर नहीं रह सकता परन्तु अग्नि तत्त्व के भी शरीर हैं। गुजरात में एक जगह है जहाँ पारसी लोगों की करीब २४००/ वर्ष पुरानी अग्नि है। उस अग्नि का यदि ध्यान से दर्शन करो तो अग्नि के कीड़े जलते दीखेंगे ! हमारे यहाँ की प्राचीन अग्नि तो अब नष्ट हो गई है। अग्नि के अन्दर के कीड़े अग्नि शरीर के हैं। उन्हें जल वायु की जरूरत नहीं होती। लोग इसीलिये कहते हैं कि मंगल पर शरीर नहीं क्योंकि पार्थिव शरीर को ही समझते हैं। यहाँ के चेतन शरीर जैसा देह वहाँ मंगल में ढूँढते हैं ! किन्तु नीहारिकाओं से लेकर छोटे परमाणु तक किसी न किसी का शरीर है।

'प्राणिनः' जो प्राण वाले हैं। ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त जितने भी प्राणी हैं सब किसी न किसी का शरीर हैं व सबमें कोई न कोई प्राणी मौजूद है। प्राणी शरीर में मिलता है परन्तु शरीर का होता नहीं। जैसे राजा होता

है। उससे मिलना होगा तो राजधानी में जाओगे। वह तो अपने काम से बाहर जा सकता है। सब जगह डाक द्वारा उसका सम्पर्क बना रहता है, परन्तु तुम्हें उससे मिलना होवे तो राजधानी ही जाना पड़ता है। इसी प्रकार यहाँ जो इन्द्रियवृत्ति बाहर गई वह हृदय से लेकर निरन्तर बाहर तक बनती है जिससे आत्मा बाहर से सम्पर्क स्थापित कर लेता है। परन्तु उसे देखना हो तो हृदय रूप गुहा में ही वह मिलेगा। सारे संसार में घूम आओ कहीं नहीं मिलेगा। हृदय गुहा में ही मिलेगा।

आत्मज्ञान ही आत्मा की प्राप्ति है, और उससे श्रेष्ठ कुछ नहीं है। आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति व परमानन्द की प्राप्ति यही प्रत्येक जीव को निरन्तर इष्ट रहती है। दुःख कभी किसी को प्रिय नहीं होता है। अगर कभी हम दुःख को प्रिय समझते भी हैं तो इसलिये कि उससे बड़े सुख की आशा रखते हैं। यही समझकर उस दुःख को झेल लेते हैं। कोई व्यापारी है। ग्राहक आ जाये तो भोजन भी ठंडा हो जाता है पर उसे यह आशा होती है कि 'अच्छा व्यापार हो जाये तो धन कमाकर आरामपूर्वक घर रहूँगा'। ऐसा नहीं है कि उसे गरम भोजन प्रिय नहीं, पर वह चाहता है कि बहुत धन कमाने के बाद गरम भोजन तो कभी भी कर सकता है। दुःख की निवृत्ति थोड़ी देर को हो जाती है पर चाहता है कि वह दुःख फिर कभी न आये। मान लो सिरदर्द हुआ। एस्प्रो खा ली तो दर्द दूर हो गया—दुःख की निवृत्ति हो गई। पर जब पता चलता है कि पेट की वजह से सिरदर्द होता है तो समझ आता है—एक बार चिरायता खा लूँ तो दर्द कभी नहीं होगा। फिर वह एस्प्रो न खाकर चिरायता खाता है ताकि कभी दर्द न होवे।

कुछ लोग कहते हैं कि आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति हो गयी तो काम हो गया। वेदान्त कहता है कि मनुष्य केवल दुःखनिवृत्ति ही नहीं वरन् सुख भी चाहता है। बाजरे की सूखी रोटी खाई या घी लगाकर दाल के साथ खाई—दोनों स्थितियों में भूख की निवृत्ति तो होती है पर घी, दाल के साथ खाने से सुख भी मिलता है। आजकल पति उठे तब पत्नी उठती है तो सूखी पाव रोटी खाने को मिलती है। पत्नी जल्दी से उठे तो दाल का परांठा मिलता है—यह पहले की बात है ! जहाँ सुख की आशा नहीं होती वहाँ जीव दुःख की निवृत्ति तो चाहता ही है, परन्तु जहाँ आनन्द की प्राप्ति सम्भव

हन्यमान नहीं होता, उसका कभी हनन नहीं होता है। यह गुहाशय आत्मा है, सदा अहन्यमान है और इसका किसी भी विकार से सर्वथा स्पर्श होता नहीं है। **'विकल्मषस्य'**—उसके ऊपर दाग भी नहीं लगता। ज्ञान की दृष्टि से भी दाग नहीं दीखता, क्रिया से भी हनन नहीं कर सकते। गीता में भी भगवान् ने कहा है **'न हन्यते हन्यमाने शरीरे'** शरीर के ऊपर क्रियायें करने पर भी आत्मा पर उसका असर नहीं होता है। धर्माधर्म का कल्मष शरीर में रहता है आत्मा में नहीं।

शंका होती है कि पाप करने वाले की मुक्ति कैसे होगी ? कल्मष आत्मा में लगा नहीं है परन्तु शरीरादि में कल्मष लगा है, उससे मुक्त होगा नहीं। समाधान है कि यह बात तो ठीक है कि भोगे बिना कर्म समाप्त होते नहीं पर जिसने कर्म किये हैं, वही भोगेगा भी। आत्मा ने कर्म करे ही नहीं हैं। यह जबरदस्ती अपने सर पर उठा लेता है कि मैंने कर्म करे। आत्मा अकल्मष है। पहले कहा था—'अनैश्चारिकान्'—वहाँ से बाहर न जाये। जब तक तुम इस मन के साथ उपाधि से एक होकर कहते हो कि 'मैंने किया, भोगा', तब तक बंधन रहेगा; मन बहिर्मुख होगा तो निश्चरण हो गये ! परन्तु **'अचलम्'** मेरा तो स्वभाव ही अचल है। मैं कभी चल नहीं सकता। यद्यपि विकल्मष शब्द से ही न चलना आ जाना चाहिये फिर भी भाष्यकार स्पष्ट करते हैं कि चलना मायने उठकर चले। दूध दही बना; कोई नहीं कहता दूध *चलकर* दही बना। शरीर में रोग, बुढ़ापा, दुःख आता है—यह शरीर का परिणाम है। इनका भी निषेध करना है कि ये तुझ में नहीं हैं। अतः कहा अचल।

यह आत्मा स्वरूप से किसी का कारण नहीं, कार्य नहीं; अज्ञान के कारण ही इसमें कारणता की प्रतीति होती है। ज्ञान से वह कारणता हट जाती है। स्वरूप से वह ऐसा ही रहता है। सोने के एक जर्रे की तरफ ध्यान दो। जब तुमने पासा खरीदा वह जर्रा था। फिर गला कर उसे गले का हार बनाया, कंगन बनाया। जर्रे में कोई फर्क नहीं पर जर्रे के समूह में अन्तर आया, यह कहा जायेगा। पासा जंजीर बन गया, जंजीर कड़ा बन गई पर सोना तो वही है। इसी प्रकार परमात्मा अनन्त रूपों में दीख रहे हैं। मूल रूप से वे वैसे के वैसे हैं। घड़ा है, कपड़ा है, फोन है—सब चीजें क्या हैं ? 'हैं'। है से कोई भिन्न नहीं है। ज्ञान दृष्टि वाला सबको

'है' की दृष्टि से देखता है। वह आत्मतत्त्व तो वैसा ही हेतु-फल सम्बन्ध से रहित है। पासा हेतु है, कड़े का कारण है अज्ञान से, पर ज्ञान से कुछ नहीं। हेतु-फल सम्बन्ध से रहित जो है वही गुहा में बैठा है। हम उपाधि से एक हुये हैं अतः हम समझते हैं कि वह अलग है। बाप बेटे का झगड़ा हुआ तो दोनों अलग हो गये। बेटा बोलता है कि हम अलग हो गये। लेकिन अलग हो ही नहीं सकते ! जब तक शरीर का सम्बन्ध है तब तक वह बाप रहेगा, तुम बेटे। ठीक इसी प्रकार उपाधि वाले तुम बन गये तो बड़ा घमंड हो गया कि 'मैं जीव हूँ'। अहंकार से कहते हो 'मेरा व्यक्तित्व है'। जैसे बाप बेटे का सम्बन्ध कभी दूर नहीं होता वैसे ही परमात्मा से तुम उत्पन्न हुये हो, उससे अलग नहीं हो सकते। अतः कहा **'चलनिकेतम्'** शरीर तो एक निकेतन है जिसके अन्दर बैठकर अनन्त शक्ति प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त कर सकते हो। चलन निकेतन में ही है, आत्मा सदा एकरूप है।

●

प्रवचन-३

'यदिदमिदिहेदिह लोके विषयमुच्यते।
विधूय कविरेतद् अनुतिष्ठेद् गुहाशयम्।।५।।'

अमृत तत्त्व को प्राप्त करने के लिये गुहाशय को जानना जरूरी है। उसे कैसे जानें—यह बताते हैं :

जो चीज सामने होती है उसे कहते हैं **इदम्**—यह। यह सारा संसार प्रत्यक्ष का विषय है। संसार में पृथ्वी, जल व तेज हमारे प्रत्यक्ष के विषय हैं। इन्हें 'मूर्त' भी कहते हैं। वायु एवं आकाश के गुणों का अनुभव होता है परन्तु इन्हें प्रत्यक्ष रूप से अनुभव नहीं किया जा सकता। इन्हें 'अमूर्त' भी कहते हैं। **'यदिदम्'**—जो भी हमारी इन्द्रियों का विषय है। **'इह'**—परलोक में भी अनुभव होने वाले विषय हैं। विषय शब्द बनता है षिञ् धातु से, अर्थात् जो बाँधे। हिन्दी में इसका प्रयोग होता है *सीना* शब्द में। जिस किसी भी चीज का हमें अनुभव होता है वह हमें बंधन में डाल देती है। यही विषय का काम है। विषयों से या सुख का अनुभव होता है या दुःख का। जब सुख का अनुभव होता है तब उससे राग उत्पन्न होता है और उस विषय की चाह बार-बार होती है। जब विषय के अनुभव से दुःख होता है तब द्वेष का भाव आता है। लोक व परलोक दोनों के विषय राग या द्वेष के बंधन में डाल देते हैं। राह चलते लोगों के प्रति न राग होता है, न द्वेष। जिस चीज के प्रति उपेक्षा भाव होता है वह कभी बंधन का कारण नहीं होती। वैसे तो विषय शब्द पुल्लिग होता है परन्तु यहाँ विषय शब्द के लिये नपुंसक लिंग का प्रयोग किया गया है। भगवान् भाष्यकार लिखते हैं 'लिङ्गव्यत्ययो वा द्रष्टव्यः'। इससे ध्वनित है कि जिन चीजों के प्रति उपेक्षा भाव होता है उनको छोड़कर अन्य चीजें राग व द्वेष उत्पन्न करती हैं। जिन चीजों के प्रति राग होता है हम उनकी तरफ दौड़ते हैं और जिन चीजों से द्वेष होता है उनसे दूर भागते हैं। जब हम कर्म करेंगे तब राग और द्वेष दोनों ही होंगे।

कर्म करने का साधन होता है शरीर। अर्थात् कर्म करने के लिए शरीर की प्राप्ति होती है। चूँकि शरीर ही भोगायतन है इसलिये विषयों का भोग होगा और फिर कर्म होंगे। यह एक चक्र के समान है—कर्मों के फल के रूप में शरीर अवश्यम्भावी और शरीर के साथ विषय भी अवश्यम्भावी होते हैं। तभी विषयों का भोग हो सकता है।

'कर्माणि देहयोगार्थम् देहयोगे प्रियाप्रिये।
ध्रुवे स्यातां ततो रागद्वेषौ चैव ततः क्रिया।।'

जब शरीर और विषय का संबंध होगा तब या प्रिय या फिर अप्रिय अनुभव होगा, या चीज अच्छी लगेगी या बुरी लगेगी। उपेक्षित विषयों को विषय कह भी सकते हैं और नहीं भी कह सकते हैं। प्रिय चीज के प्रति राग न हो, ऐसा सम्भव नहीं है। उसी प्रकार अप्रिय चीज के प्रति द्वेष न हो, यह भी सम्भव नहीं है। लोग कहते हैं कि 'राग-द्वेष नहीं करो' परन्तु यह कैसे सम्भव हो ? रावण को कैसे न समझें कि वह बुरा है और राम को कैसे न समझें कि राम अच्छा है ? इसके लिय समझना पड़ेगा कि एक परमात्मा ही राम, रावण आदि सभी नामरूपों में उपस्थित है। स्वतः परमात्मा न राम के क्रियाकलापों वाला है, न रावण के; दोनों उस पर एक जैसे कल्पित हैं। व्यवहार है उपाधियों से अतः हम भी अनुकरण का व्यवहार करेंगे तो राम के अनुसार और कैसा आचरण न करें यह सीखेंगे रावण से। फिर भी निश्चय रहेगा कि वही परमात्मा उन उपाधियों में वैसा-वैसा व्यवहार करता दीख रहा है। परमात्मा एकरस ही है इसमें संदेह नहीं लेकिन इससे व्यवहार में उलट-पुलट नहीं होगा। यह समझ बनी रहे तब तो राग-द्वेष से बच सकते हैं क्योंकि पता है कि तत्त्व में भेद नहीं केवल कल्पित उपाधि में, व्यवहार में अन्तर है। जब तक एक परमात्मा को पहचान नहीं पाते तब तक विषयानुभव होने पर राग-द्वेष होंगे ही। वे हुए तो आगे क्रिया होगी, क्रिया हुई तो कर्म बन गये और कर्म बन गये तो फिर चक्र शुरू हो गया। विषय इस प्रकार संसार-बंधन में हमको चलाते रहते हैं। इसलिये कहा चाहे इह लोक हो या परलोक, सब कहीं सुख-दुःख का अनुभव होता है। यही विषय का स्वरूप है कि अनुभव द्वारा सुख-दुःख देकर राग-द्वेष से बाँध देता है।

जो **कवि** होता है वह इनसे दूर हो जाता है और इनका त्याग कर देता है। कवि का संस्कृत में अर्थ होता है क्रान्तदर्शी। ईशावास्य में भी आया है 'कविः'। एक तो होता है जो चीज सामने है उसको देखना और

दूसरा उसको क्रमण करके, उसको लाँघकर कुछ और देख लेना; यह हुआ क्रान्त-दर्शन। प्रायः लोग कवि के अर्थ को संस्कृत की दृष्टि से नहीं समझते। वे समझते हैं कि छन्दोबद्ध रचना होवे तो कविता है; छन्द न हो, तुक न मिले तो कविता नहीं। यह तो रचना का प्रकारभेद हुआ। इस विभाजन को गद्य और पद्य तो कह सकते हैं लेकिन गद्य में भी कविता लिखी जा सकती है और पद्य में भी जो कविता नहीं है उसे लिखा जा सकता है। विज्ञान के हमारे प्राचीन ग्रंथ बड़े सुंदर सुंदर छंदों में लिखे गये हैं। आयुर्वेद के ग्रंथ अधिकतर छंदों में लिखे गये हैं परन्तु उन्हें कोई कविता नहीं कहता। बाणभट्ट आदि गद्य में लिखते थे परन्तु उन्हें कवि कहा जाता है। यह इसलिये कि जहाँ क्रान्त दर्शन किया जाये, अर्थात् परिस्थिति से आगे बढ़कर कुछ और समझा जाये, वहाँ तो है कविता। और जहाँ जैसी चीज़ है वैसा कह दिया जाए, वह ग़ैरकवितात्मक साहित्य है, उसे कविता नहीं कह सकते। आजकल कुछ लोग यथार्थवादी कविता की बात करते हैं : कहते हैं—जैसी चीज है वैसी बोल दी तो कविता हो गई ! प्रश्न यह उठता है कि यदि कविता यथार्थवादी हो तो बाकी का जो साहित्य है, जो कविता नहीं है, उसका क्या लक्षण करोगे ? हमारे यहाँ कवि के विषय में बतलाया गया—

'कवीनाम् पुनराद्यानां वाचम् अर्थोऽनुधावति।'

कवि जिस बात को कह देता है वह आगे जाकर घट जाती है। साधारण लेखक चीज को देखकर लिखता है। कवि जो लिखता है वह बाद में घटता है।

क्रान्तदर्शिता का अर्थ है जो यथार्थ परिस्थिति है उससे आगे देख सकना, उससे ऊपर जा सकना। परमात्मतत्त्व को जानने के लिये कवि बनना पड़ता है। हमें संसार के नाम रूप पदार्थ, जिन्हें यहाँ 'इदम्' से कहा है, तो दीख रहे हैं। परलोक चाहे न दीखे पर इहलोक में तो हमें सब कुछ दीख रहा है। जो चीज दीख रही है वह किसी न किसी देश या काल में दीख रही है। वह चीज हमेशा दूसरी चीजों से अलग दीख रही है। इसी को दार्शनिक भाषा में कहते हैं कि हर चीज में देश का परिच्छेद, काल का परिच्छेद और वस्तु का परिच्छेद होता है। हर पदार्थ किसी न किसी देश की सीमा में है, किसी न किसी काल की सीमा में है और अन्य चीजों से भिन्न है। यह तो हम देखते हैं।

जब क्रान्तदर्शी बनते हैं तो उस चीज को देश, काल, वस्तु में देखते हुए, देश, काल वस्तु से अतीत समझते हैं। दृष्टांत के लिये एक नेकलेस, कण्ठहार सभी को कण्ठहार ही दीखता है। परन्तु एक सुनार को उसमें बाईस टंच का सोना भी दीखता है। उस सोने को गला कर चाहे कड़ा बना लें, चाहे झुमके बना लेवें, वह फिर भी बाईस टंच का सोना तो रहेगा ही। साधारण मनुष्य के लिये तो वह चीज नए रूप में बदली होती है परन्तु सुनार के लिये वही सोना रहता है जिसका नेकलेस बना हुआ था। सूत या कपड़े के व्यापारी को बीस डिजाइन के कपड़े दिखलाओ, उसकी नजर जाती है पहले इस पर कि सूत कैसा है। उसको उससे उस कपड़े का भाव पता चल जाता है। जो सूत या कपड़े को पहचानने वाला नहीं है वह अच्छे डिजाइन को भी खराब कपड़े पर खरीद लेगा। कपड़े के व्यापारी को भी डिजाइन दीखता है परन्तु उसकी दृष्टि कपड़े पर से भी हटती नहीं।

पुराने जमाने में कपड़ों का इतना बाहुल्य नहीं था। घर में एक-दो धोती आ गयी तो साल भर आराम से चलता था। श्रावण का महीना आया, कच्चे रंग होते थे, उसे हरा रंग लिया। माघ का महीना आया तो उसी कपड़े को पीला, वसन्ती रंग लिया। रंग कच्चे होते थे तो दो-चार धुलाई में निकल जाते थे। सारे साल ऐसा ही चलता था। डिजाईन या रंग के फर्क से कपड़ा तो नहीं बदलता, कपड़े की प्रतीति बदल जाती है। ठीक इसी प्रकार ये सारे जो विषय दीख रहे हैं इनकी वास्तविकता क्या है ? वास्तविकता तो ब्रह्म है। सारे रूपों को धारण करते हुए ब्रह्म में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। जैसे कपड़ा वह का वह है--उस पर पीला रंग कर दिया या हरा कर दिया—उससे कपड़े में तो कोई फर्क नहीं आया; उसी तरह राम का रूप धारण किया हुआ भी ब्रह्म ही है और रावण का रूप धारण किया हुआ भी ब्रह्म ही है। हरे रंग का कपड़ा श्रावण में और पीला कपड़ा माघ में पहना जाता है। अब कोई उल्टी बात करे कि पीला श्रावण में और हरा माघ में पहन लेवे क्योंकि कपड़ा तो वही है, तो शोभा नहीं देगा। उसी प्रकार जब हमें किसी का अनुकरण करना है तो ब्रह्म के राम रूप से ही व्यवहार करेंगे। हमको कैसा बनना है, हमको किसके अनुसार चलना है? ब्रह्म के राम रूप के अनुसार चलना है। और हमको कैसा नहीं बनना है? रावण का रूप देख लो। हैं तो दोनों ही ब्रह्म। जैसे एक ही कपड़ा हरा और पीला, वैसे एक ही ब्रह्म कहीं अनुकरणीय है और कहीं अनुकरणीय

नहीं। इसके विपरीत करने में शोभा नहीं है। इसलिये बतलाया कि कवि होना पड़ेगा—राम और रावण, दोनों के चरित्रों को बाँच करके दोनों में रहने वाले ब्रह्म को पहचानते हुए, अनुकरणीय और अननुकरणीय उपाधियों को सामने रखना पड़ेगा।

क्रान्त का दर्शन करने के लिये भी बुद्धि चाहिये। एक बार एक पंडित जी ने महाभारत की कथा सुनाई। कथा के अन्त में सोचा कि श्रोताओं से पूछें कि क्या-क्या समझे। उन्होंने सेठजी से पूछा कि क्या बात अच्छी लगी। सेठजी बोले 'पहले कोई ब्राह्मण या गरीब की कन्या के ब्याह की बात होती थी तो मन में आता था कि पाँच-सात सौ रुपये दे दूँ। पर अब नहीं दूँगा ! महाभारत में दुर्योधन की बात पसंद आ गयी कि सूई की नोक के बराबर जमीन भी नहीं देनी।' पंडितजी घबराये। सोचा कि औरतों में श्रद्धा ज्यादा होती है तो सेठानी से पूछा। सेठानी बोली कि, 'मैंने महाभारत की कथा देर से सुनी। द्रौपदी के पाँच पति थे और मैं एक के साथ ही फँसी रह गयी ! अब जरा उम्र तो हो गयी है पर कोशिश जरूर करूँगी।' कथाकार और ठंडे हो गये। फिर उन्होंने सोचा कि लड़की से ही पूछ लेवें—छोटी बच्ची है तो शायद ठीक ही समझी हो। उन्होंने लड़की से पूछा 'तुमने क्या सीखा महाभारत से ?' लड़की बोली, 'जी, मैं बहुत दिनों से पड़ोसी लड़के के साथ भागने की सोच रही थी, पर रुक जाती थी कि घर की बदनामी होगी। जब भगवान् ने स्वयं अपनी बहन सुभद्रा को भगवा दिया तो अब मेरी रुकावट कुछ नहीं।' पंडितजी ने अपनी महाभारत की पोथी बाँधते हुए कहा, 'आज मैंने भी एक शिक्षा ले ली है कि आज से किसी को कथा नहीं सुनाऊँगा।'

क्रान्तदर्शी का अर्थ करते हुए भाष्यकार लिखते हैं—'कविः क्रान्तदर्शी मेधावीत्यर्थः।' ठीक बात को समझ लेने की शक्ति मेधा होती है। अन्यथा लोग क्रान्तदर्शन भी ऊटपटांग कर लेते हैं। मेधावी का अर्थ है कि जो कहना चाहा जा रहा है उसको समझना। वेद हमको बार-बार क्या कहना चाह रहा है ? परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ सत्य है ही नहीं इस बात को कहना चाह रहा है। अतः जो कहा जा रहा है उसके द्वारा इस बात को समझना है। जब कवि होगा, इस प्रकार से मेधावी होगा तब तात्पर्य समझकर विषयत्याग कर सकेगा।

इह लोक के विषय तो हैं साधन और परलोक के विषय फल हैं। हैं तो दोनों ही विषय लेकिन आगे आने वाले फलरूप विषय हैं परलोक के और यहाँ के विषय साधन हैं उपयोग करने के लिये। सदुपयोग करोगे तो ऊपर के लोकों को जाओगे, दुरुपयोग करोगे तो निम्न लोकों में जाओगे। हर हालत में इस लोक के विषय तो हैं साधन जिन्हें means कहते हैं, और परलोक के विषय हैं फल। साधन और फल दोनों को छोड़कर, दोनों का परित्याग करने से मन अनैश्चारिक हो जायेगा। अनैश्चारिक का मतलब पहले मंत्र में बता चुके हैं कि फिर मन बाहर नहीं जायेगा। या मन साधनों को ढूँढने के लिये बाहर जाता है या फल को ढूँढने के लिये। जब इन दोनों को नहीं ढूँढेगा, तब शांत होकर मन क्या करेगा ? **'अनुतिष्ठेद् गुहाशयम्'**। तब यह अपने हृदय गुहा के अन्दर रहने वाला जो यह परमात्मतत्त्व है उसका अनुष्ठान करेगा अर्थात् उसमें स्थिति करेगा। इसीका फल गत मंत्र में कहा था 'येऽनुतिष्ठन्ति तेऽमृताः'—जो अनुष्ठान करते हैं वे अमृत हो जाते हैं, अमर हो जाते हैं।

प्रवचन-४

यह बतलाया कि किस प्रकार विषयों के आकर्षण को छोड़कर गुहाशय के अन्दर विद्यमान जो परमात्मतत्त्व है उसका अनुष्ठान करे, उसमें स्थित होवे। कैसे होवे ? वह बतलाते हैं--

'आत्मन्येवाहमलब्ध्वैतद्धितं सेवस्व नाहितम्।
अथान्येषु प्रतीच्छामि साधुष्ठानमनपेक्षया।।६।।'

अनुष्ठान किस प्रकार से करें ? कहाँ करें ? जो गुहा में स्थित परमात्म-तत्त्व है, अज्ञान से आवृत परमात्मतत्त्व है उसका अनुष्ठान कहाँ करें ? कई प्रकार के स्थान बताये जाते हैं। कोई कहता है आदित्य मण्डल में स्थित सूर्य को परमात्म-तत्त्व समझो। कोई कहता है वैकुण्ठ आदि लोकों में स्थित विष्णु इत्यादियों को समझो, अनुष्ठान करो। कोई कहता है शरीर के अन्दर होने वाले भिन्न-भिन्न चक्र हैं उन सबके अन्दर अनुष्ठान करो। परमात्म-तत्त्व का अनुष्ठान कहाँ करो ? भिन्न-भिन्न स्थलों के अन्दर अथवा शरीर के अन्दर ही भिन्न-भिन्न केन्द्रों में उसके अनुष्ठान की बात कही जाती है। इसका कहाँ अनुष्ठान करें ?

महर्षि स्पष्ट बतलाते हैं--**'आत्मन् एव अहम्'**--आत्मा में तुमको 'मैं'--इस चीज का बोध हो रहा है, 'मैं' यह परमात्मा की मूर्ति है। और इस मूर्ति के अन्दर जो इस मूर्ति का नियंत्रण करने वाला है वही परमात्मा है। सूर्य मण्डल के अन्दर अगर तुम देखोगे तो तुम्हारी दृश्य-भावना कभी मिटेगी नहीं। तुम देखने वाले हो, ध्यान करने वाले हो और सूर्य मण्डल में जो स्थित है वह दृश्य है उसका ध्यान कर रहे हो। ठीक है, शुरु में चित्त की एकाग्रता के लिये कहीं भी करो। इसीलिये महर्षि पतंजलि ने कहा--जिस चीज में तुम्हारा चित्त लगे, वह कोई भी चीज हो, चित्त को एकाग्र करने के अभ्यास के लिये उसका उपयोग किया जा सकता है। **'यथाभिमताद् ध्यानाद् वा'**--कई ध्यान के स्थल उन्होंने बतलाये हैं। अब उनमें कौन सा अच्छा है, कौन सा ले लेवें ? तो उन्होंने कहा--**'यथाभिमत'**--जो मैंने कहे चाहे वे हों, चाहे उनसे भिन्न हों परन्तु जिस चीज में तुम्हारा चित्त लगे--यथाभिमत--जैसा तुमको अभिमत होवे उस पर ध्यान एकाग्र करो।

पंचदशीकार ने तो यहाँ तक बतलाया है : कोई एक शिष्य था, गाँव से आया था। गुरुजी ने उसको तरह-तरह से चित्त एकाग्र करने के स्थल बताये। किसी चीज में उसका मन न लगे। अंत में उन्होंने पूछा--'तुम्हें किसी चीज से सचमुच में कभी प्रेम हुआ है ?' उसने कहा 'महाराज ! और तो किसी चीज से नहीं हुआ है पर मेरी एक बहुत बढ़िया भैंस थी, वह दूध बहुत बढ़िया देती थी। और तो मुझे किसी की याद नहीं आती है, उसकी जरूर याद आती है। ब्याहने वाली थी। ब्याह गई होगी। कितना दूध देती होगी।' वे लिखते हैं 'भिक्षुको महिषीस्नेहात्'--वह जो संन्यासी था उसको चूँकि भैंस के अन्दर ही स्नेह था तो उन्होंने कहा कि काम हो गया, बस भैंस का ही ध्यान कर।

चित्त को एकाग्र करने के लिये जो भी दृश्य तुम्हारे मन का आकर्षण करता है वही दृश्य काम दे जायेगा। चित्त की एकाग्रता के बाद तुम परमात्म-तत्त्व को प्राप्त करना चाहोगे। परन्तु अनात्मा के ध्यान से आत्मा की प्राप्ति हो नहीं सकती। चाहे तुम सूर्य मण्डल में ध्यान करो चाहे कहीं ध्यान करो, वहाँ हमेशा तुम्हारे में द्वैत-बुद्धि बनी रहेगी। केवल एक ही ऐसी मूर्ति है जहाँ हमारी द्वैत-बुद्धि नहीं होती, वह है 'मैं' यह अनुभव। 'मैं' इस अनुभव के अन्दर कहीं यह नहीं होता कि अनुभूयमान 'मैं' कोई दूसरा है और अनुभविता 'मैं' उससे अलग हूँ। इसलिये परमात्म-तत्त्व का ध्यान तो अहम् की मूर्ति में ही संभव है। जिस जिस चीज में तुम्हें अहम् की प्रतीति होती है वहीं वहीं तुम्हें मन को एकाग्र करना पड़ेगा। कहो कि 'जी, अहम् की प्रतीति तो हमें हमेशा होती है।' होती तो है, परन्तु एकाग्र मन से नहीं होती क्योंकि मैं की प्रतीति के साथ कोई न कोई दृश्य भी सामने रहता है। अगर तुम केवल--'अहम् अस्मि' 'मैं हूँ' इतना मात्र सोचना चाहो तो नहीं सोच पाते। मैं देवदत्त हूँ, मैं यज्ञदत्त हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं गोरा, मैं लम्बा हूँ, मैं बुद्धिमान् हूँ, मैं बेवकूफ हूँ--इस प्रकार से तो तुम्हें मैं की प्रतीति हो जाती है। अर्थात् मैं की प्रतीति के साथ चित्त किसी न किसी दूसरे अनात्म-तत्त्व को भी ग्रहण करता रहता है। जब चित्त की एकाग्रता हुई तो संभव है कि और किसी चीज का चिंतन न होते हुये केवल अहम् का चिन्तन होवे। जब तक चित्त एकाग्र नहीं होता तब तक यह इसलिये संभव नहीं है कि मैं को सोचने के साथ ही तुम किसी न किसी और चीज को ले आते हो। वास्तविक जिसको ध्यान कहते हैं वह केवल अहम् का

ध्यान ही हो सकता है। कारण—ध्यान का लक्षण होता है एक वृत्ति का प्रवाह। बाकी सर्वत्र मैं की वृत्ति के साथ कोई दूसरी वृत्ति रहेगी। अतः बाकी सब जगह सर्वथा एकाग्रता का ध्यान नहीं है। 'एक' इसको वेद ने ब्रह्म का नाम कहा है 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकम्।' इसलिये जो सिख लोग होते हैं वे तो एक की संख्या लिखकर फिर ॐ लिखते हैं—एक ओंकार सतनाम। यह इसी बात को कहने के लिये कि एक यह तो है ही ब्रह्म का नाम। एक अर्थात् परमात्मा ही अग्र है, आगे है तभी उसको एकाग्रता कहोगे। यदि कोई अनात्म-पदार्थ आगे है तो एकाग्रता कैसे कहोगे? इसलिये इस अहम् तत्त्व में परमात्मा के ध्यान से पहले जिसको ध्यान कहा जाता है वह तो उपचार से कहा जाता है।

प्रधान की प्राप्ति के लिये जो चीजें होती हैं उसको भी प्रधान के नाम से कह दिया जाता है। चार जगह से शादी के निमंत्रण आये। चारों जगह तुम इकट्ठे तो उपस्थित हो नहीं सकते। आजकल तो एक साथ चार जगह पहुँच जाते हैं, न कहीं ढंग से खाना है, न कहीं ढंग से बैठना है। बस शक्ल दिखाई और आगे गये। उस प्रकार भले ही तुम चार जगह पहुँच जाओ, लेकिन प्राचीन परंपरा में तो विवाह का मतलब हुआ कि जब तक समाप्त होकर डोली विदा न हो जाये तब तक वहाँ उपस्थित रहोगे। बारात आयेगी तो उन्हें परोसोगे, चार बार पूछोगे—'और कुछ लीजिये'। अब तो अन्न की बड़ी कमी आ गयी है, इसीलिये अरबपति भी भूखे रहते हैं ! भोजन टेबिल पर रख दिया जाता है। अगर भुक्खड़ हो तो जाओ और खाओ। कोई पूछने वाला नहीं है। पहले अन्न की बहुतायत थी। इसलिये लोग चार बार कहो तब खाते थे। कहे कोई तब जब वहाँ उपस्थित हो। इस तरह तो चार जगह जा नहीं सकते। अतः तुम देखते हो 'यह तो मेरी चचेरी बहन की शादी है। यहाँ पर मैं जाऊँगा। उससे कुछ घटकर, थोड़ा-सा दूर का रिश्ता है—यहाँ बड़े लड़के को भेज दूँगा। इस जगह तो खाली दोस्ती का व्यवहार है, कोई खास रिश्ता नहीं है—यहाँ छोटे लड़के को भेज दूँगा।' बड़े लड़के को भेज देने से तुम्हारी उपस्थिति मान ली गई परन्तु फिर भी वह आदमी तुमसे कहेगा 'आये क्यों नहीं।' तुम यही कहोगे 'आपको पता ही है, चाचा की लड़की की शादी थी।' मुख्य हुआ जहाँ तुम गये थे, लेकिन जहाँ तुम्हार बड़ा लड़का गया वहाँ भी तुम गये यह मान लिया जाता है।

छोटा लड़का गया तो इसका मतलब है कि उससे घट कर तुम्हारा संबंध है। लेकिन यह भी उपस्थिति हो ही गयी। सर्वथा नहीं जाओगे तो जितना दुःख होगा उतना छोटे लड़के की उपस्थिति से दुःख नहीं होगा।

ठीक इसी प्रकार मुख्य आत्मा तो वह सद्ब्रह्म है। अतः वहाँ की एकाग्रता, वहाँ का ध्यान तो मुख्य ध्यान है। जब तक वह नहीं करते हो तब तक अनात्मा अर्थात् दृश्य के अन्दर भी सच्चिदानन्दरूपता देखते हो। भगवान् विष्णु की मूर्ति है। ध्यान तो इसी रूप में करते हो कि वह सच्चिदानन्द रूप है। लेकिन वहाँ पर तुम्हें चित् का भान तो नहीं हो सकता है, आनन्द का भान तो नहीं हो सकता है। सुख और ज्ञान का भान तो हमेशा 'मैं' में ही होता है। 'मैं जानता हूँ' यहाँ तो ज्ञान का भान होता है। देवदत्त जान रहा है; इसका हमें भान नहीं है, इसलिये पूछना भी पड़ता है। कोई पूछता है—'जग रहे हो ?' तो कहते हो 'हाँ, जग रहा हूँ। ऐसे ही लेटा हूँ।' कई बार धोखाधड़ी भी करते हो। बच्चे को स्कूल जाना नहीं है। जितना भी जगाओ वह जगेगा ही नहीं। अब अगर तगड़ी माँ है तो मारती है दो थप्पड़—'उठ, जा।' ढीली माँ है तो बच्चे का काम चल जाता है। वह जग तो रहा है, जग रहा है यह बात तुम नहीं जानते। अनुमान कर सकते हो कि इतना हिलाने पर भी नहीं उठ रहा है तो जग रहा होगा। परन्तु 'मैं जग रहा हूँ'—इसका भान तो साक्षात् होता है। जानने का भान अहम् में तो साक्षात् है अर्थात् वहाँ चित् का भान है।

इसी प्रकार अहम् में आनन्द का भान तुम्हें प्रत्यक्ष होता है। रसगुल्ला खाकर मजा आया तो यह ज्ञान तुम्हें होता है। परन्तु सामने वाले को रसगुल्ला खाकर मजा आया कि नहीं यह ज्ञान स्पष्ट नहीं होता। उसके चेहरे को देखकर अनुमान लगा सकते हो। एक हमारे शिष्य हैं। बतला रहे थे कि विदेश गये हुए थे। किसी ने उनसे कहा 'हमारे यहाँ भोजन करने आना।' उन्होंने कहा 'भोजन के बाद आ जाऊँगा।' उसने कहा 'ऐसी क्या बात हो गई ? भोजन के लिये ही आइये।' उन्होंने कहा 'जी मैं शाकाहारी हूँ।'तो सामने वाले सज्जन बोले कि 'मेरी पत्नी बहुत अच्छा शाकाहारी भोजन बनाती है।' पहुँच गये वहाँ खाने के लिये। अब जब भोजन आया तो बड़ा सुंदर उबला हुआ बैंगन लाकर रख दिया ! उन्होंने सोचा कि कैसे खाया जाये ? नाराज भी नहीं करना था। बैंगन खाते ही

बोले कि 'बहुत वढ़िया है !' वह भी खुश हो गया, 'मैंने कहा था ना कि मेरी पत्नी बहुत अच्छा शाकाहारी भोजन बनाती है।' वह तो समझ रहा है कि तुम्हें सुख हो रहा है, तुम्हें क्या हो रहा है वह तुम्हीं जानो। परन्तु मैं सुखी हूँ या नहीं--इसमें हमें कहीं कोई संदेह नहीं रहता। मुझे आनन्द हुआ या नहीं--यदि इसमें भी कोई संदेह करे तो ? पंचदशीकार विद्यारण्य स्वामी कहते हैं--ज्ञान होने पर भी कोई कहे 'मुझे हुआ या नहीं' तो समझाने का कोई तरीका नहीं हो सकता, वह मानो मिट्टी का लोंदा ही है।

चित् और आनन्द का अनुभव अन्यत्र खाली औपचारिक है अर्थात् उससे संबद्ध चीज देखकर अनुमान हो सकता है, अंदाज लग सकता है। परन्तु अपने अन्दर तो साक्षात् अनुभव है। अतः सच्चिदानन्द परब्रह्म के ध्यान का स्थल तो अहम् ही है। 'मैं आनन्दस्वरूप हूँ मैं ज्ञानस्वरूप हूँ' यह 'आत्मन्येव अहम्' अपने अंदर ही संभव है। प्रायः अहम् का अनुभव मनुष्यों को हृदय के स्थल में होता है। 'मैं' कहता है तो हमेशा छाती पर हाथ रखकर। इसीलिये हम लोग कह देते हैं कि हृदय में ध्यान करो। इन्होंने भी 'गुहाशयम्' कहा था। पर अब आगे स्पष्ट करते हैं कि खाली किसी क्षेत्र को लेकर हृदय नहीं कह रहे हैं। अहम् का जो अनुभव है वह कहीं होता नहीं है क्योंकि वह तो वह चीज है जहाँ से अनुभव हो रहा है। अतः जब हम अहम् कह रहे हैं तब उस अहम् के अन्दर भी सच्चिदानन्दरूपता को लाना है, उसको किसी एक देश में सीमित करने का प्रयत्न नहीं है।

यह ठीक है कि 'मैं' से स्वभावतः शरीर उपस्थित होगा लेकिन उसे परमात्मा समझकर ध्यान नहीं करना है। जब ध्यान केन्द्रित करोगे तब पहले देवदत्त, यज्ञदत्त अपना शरीर याद आता है, प्राण, मन, बुद्धि इत्यादि याद आते हैं। तब विचार करके देखो कि क्या यह सचमुच मेरा स्वरूप है ? जो सचमुच स्वरूप हुआ करता है वह कभी बदलता नहीं है। जब तक सही तरह समझ नहीं लिया तब तक जिसे स्वरूप मानते हो वह बदल सकता है लेकिन जब प्रमाण से निश्चय कर लिया तब वह उस निश्चित स्वरूप के बिना मिलेगा नहीं। जो कभी बदले नहीं वही उसका स्वरूप होता है। जो चीज आने जाने वाली होती है वह स्वरूप नहीं होता। जिस प्रकार अग्नि का स्वरूप गरम है तो गरम ही रहेगा। कोई कहे 'जी वहाँ गरमी पड़ रही थी। ऐसी जबरदस्त गर्मी थी कि हमारे दाँत बज रहे थे, हम ठिठुर

रहे थे।' तो क्या कोई मानेगा ! गर्मी पड़ रही थी तो ठिठुरोगे नहीं। प्यास बुझाना--यह जल का काम है। जल पियोगे तो प्यास बुझेगी। जो जिस चीज का स्वरूप है वह बदलता नहीं। इसी प्रकार आत्मा का, मैं का जो स्वरूप वह है जिसका 'मैं' कहने से अवश्य भान होता है। विचार करके देखो कि जिसका भान हो रहा है वह बदलता है कि नहीं ? मान लो ध्यान करते हुये तुम्हें ख्याल आया कि मैं लम्बा आदमी हूँ। यह ध्यान की प्रक्रिया है, करने की प्रक्रिया है। क्या आज से पचास साल पहले मैं लम्बा था ? बालक था, किशोर हुआ, कुमार हुआ, युवा हुआ। जब युवा हुआ तब जाकर पूरा लम्बा हुआ। इसलिये लम्बाई--यह मेरा स्वरूप हो नहीं सकती। यह बदलने वाली है परन्तु मैं तो वही रहा। मैं कभी नाटा था। ग्यारह साल की उम्र का था। ताई जी ने मेरी बुरी तरह से पिटाई की थी--तो क्या यह बोध होता है कि जिसकी पिटाई की थी वह कोई और था और मैं कोई और हूँ ? शरीर तो बदल गया। जिसकी पिटाई हुई वह चार फुट का था और मैं छः फुट का हूँ। यदि शरीर से 'मैं' अलग न होता तो तुम्हारा बोध होता कि जिसकी पिटाई की वह कोई और था और मैं कोई और हूँ। मैं वही हूँ जिसकी पिटाई हुई। शरीर बदला परन्तु मैं नहीं बदला। इस प्रकार से जिस-जिस चीज की मैं के साथ प्रतीति होती है उसके बारे में विचार करो। इस विचार को ही शास्त्रीय भाषा में अन्वय व्यतिरेक कहा जाता है।

तुम्हारी माला में धागे का तो अन्वय है। हर दाने के अन्दर धागा तो है। परन्तु दानों का आपस में और धागे से व्यतिरेक है--एक दाने में दूसरा दाना नहीं। इसी प्रकार आत्मा का तो सब चीजों में अन्वय है। दानों में व्यतिरेक है। व्यतिरेक से डोरे को अलग करके जानना है। माला तो पूरी साबुत रहेगी, विचार करके, अन्वय-व्यतिरेक से तुम धागे की व्यापकता को समझोगे। इसी प्रकार मैं के अन्वय को देखना है : मैं का जो स्वरूप होगा वह तो जहाँ मैं कहते हो वहाँ सर्वत्र वही रहेगा। लेकिन मैं के साथ लटकी हुई चीजें बदलती जायेंगी। जब मैं बच्चा था तब बचपन का शरीर भी मैं के साथ लटका हुआ था। यह मैं तो बुड्ढे शरीर में भी है परन्तु बचपना नहीं रहा। इसलिये यह मेरा स्वरूप नहीं हो सकता। अथवा याद आयेगा कि मैं ब्राह्मण हूँ। अब विचार करो--क्या पूर्व जन्म में मैं ब्राह्मण

था, क्या इसके बाद मैं ब्राह्मण बनूंगा ? यह जरूरी नहीं कि हर जन्म के बाद जाति एक ही रहे। यद्यपि मैं अभी अपने को ब्राह्मण मानता हूँ तथापि अन्वय व्यतिरेक करने से पता चलता है कि शरीर के साथ एक होकर ब्राह्मण हूँ, जब तक यह शरीर रहेगा तब तक ब्राह्मण बना रहेगा। परन्तु बाद में शरीरादि भी छूट जायेगा, तो मैं ब्राह्मण नहीं रहूँगा। अतः वह मेरा स्वरूप नहीं।

कुछ लोग कहते हैं कि अगले जन्म में आदमी आदमी रहता है और औरत औरत ही रहती है। जो गधा पैदा हुआ है वह आगे गधा ही पैदा होगा और घोड़ा घोड़ा ही पैदा होगा। उनकी मान्यता गलत है। परन्तु इस शंका को कैसे दूर करें ? कई बार देखा होगा कि तुमको सपना आता है तुम सरकारी मुलाजिम हो। तुम्हारा नाम प्रमोशन के लिये बार-बार जाता है परन्तु लिस्ट आने पर तुम्हारा नाम नहीं होता। तुमसे जो कम काम करने वाला है उसको प्रमोशन मिल जाता है। तुम अपने अफसर के पास जाते हो तो पता लगता है कि तुम ब्राह्मण हो और चूँकि वह हरिजन है इसलिये उसे कोटे में प्रमोशन मिल गया। तो स्वाभाविक है कि सोचते हो कोटे वाली जाति ज्यादा अच्छी है। ऐसी हालत में कई बार स्वप्न आता है कि तुम उसी जाति वाले पैदा हुये और बार-बार तुम्हें प्रमोशन मिल रहा है। अब विचार करके देखो कि स्वप्न में तो तुम ब्राह्मण नहीं रहे क्योंकि जाग्रत् की जाति नियम से स्वप्न में रहे ऐसा नहीं होता।

महाराष्ट्र में बहिरम भट्ट नामक एक वैदिक विद्वान् ब्राह्मण थे। उम्र ज्यादा हो गई थी। एक दिन भोजन करने बैठे तो किसी चीज में नमक ठीक नहीं पड़ा था। घरवाली को डाँटते हुए बोले, 'तू बुड्ढी हो गई है। परन्तु अभी तक यह नहीं पता कि नमक कैसे डालते हैं।' वह बोली, 'आप भी बुड्ढे हो गये हैं परन्तु अभी तक चटोरापन नहीं गया।' वैदिक ब्राह्मण थे, सुनकर चोट लगी। उन्होंने निश्चय कर लिया कि वे संन्यास ले लेंगे। संन्यास लेने गुरु के पास गये तो गुरु जी ने विद्वान् ब्राह्मण देखकर संन्यास दे दिया। संन्यासी बनने से चटोरापन जाये ऐसा तो है नहीं। जब तक गुरुजी के पास रहे तब तक तो अच्छा भोजन मिलता रहा। एक साल बाद गुरुजी ने कहा कि बाहर जाकर भिक्षा करो। बाहर तो कभी अच्छा मिलता, कभी बुरा और कभी कुछ भी नहीं। तो वह सोचने लगे कि घर में कम

से कम एक बार तो मिल जाता था ! चलते-चलते उन्हें एक फकीर मिला। वह बताता कि वहाँ आज ऐसा मिला, आज ऐसा भोजन मिला। बहिरम भट्ट ने निर्णय लिया कि मैं भी फकीर बन जाऊँ। सुन्नत हुई और वे फकीर बन गये। कुछ दिन तक को मांस इत्यादि खाना चलता रहा। ब्राह्मण थे, बचपन के संस्कार जाग्रत् हुये। उन्हें लगा कि वे गलत रास्ते पर आ गये हैं। आत्मा का धिक्कार चटोरेपन पर हावी हो गया। उन्होंने फकीरी छोड़ी और पुनः संन्यासी बन गये। उस समय मुसलमानों का राज था। मुसलमानों ने शिकायत की कि यह हिन्दू बन गया। काजी ने बुलाया और पूछा कि 'तुम पहले हिन्दू थे, फिर मुसलमान हुये और फिर हिन्दू कैसे हो गये ?' अब पंडित यह सिद्ध करने लगे कि यह हिन्दू है। हिन्दुओं में कर्णछेदन संस्कार होता है। कान उनके छिदे थे, यह प्रमाण था कि वे हिन्दू थे। मुसलमान कहने लगे कि इनकी सुन्नत हो गयी है इसलिये मुसलमान हैं। यह सुनते-सुनते उनके मन में तीव्र जिज्ञासा हुई कि आखिर मैं कौन हूँ ? वे एक अनुभवी महात्मा के पास गये। उन्हें सारी बात बतायी और पूछा कि मैं कौन हूँ ? महात्मा समझ गये। उन्होंने बहिरम भट्ट को चिमटे से बहुत पीटा। पीटकर धूनी में डाल दिया तो वे जलकर राख हो गये। उस राख पर उन्होंने पानी डाला तो पुनः वापिस आ गये। अब न कान में छेद था और न सुन्नत। तब महात्मा जी बोले, 'तू तो परमात्मा का ही स्वरूप है।'

ठीक इसी प्रकार हम सभी की स्थिति है। जब विवेक रूपी चिमटे से पिटाई की जाये और अनात्मस्वरूप को ज्ञान की अग्नि में जलाया जाये तब यह ज्ञान संभव है कि तू ब्रह्मस्वरूप है। न ब्राह्मण, न क्षत्रिय, केवल ब्रह्म। हम सभी बहिरम भट्ट के समान हैं। विचार करके देखो—हम सब बहरे ही तो हैं ! भाष्यकार भगवान् शंकर कहते हैं कि तुम नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त हो। शास्त्र कहते हैं तुम मुक्त हो। परन्तु हमारे कानों पर ऐसा पर्दा पड़ा है कि हम सुनते ही नहीं। बहरे हैं। जब कभी मन में सचमुच यह प्रश्न उठता है तब विवेक के चिमटे की मार से, अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा जो जो अनात्म-पदार्थ सामने आये उसे हटाते रहना चाहिये। उसके बाद बचा जो शुद्ध त्वम्पदार्थ, प्रत्यगात्मा, उस पर गुरु महावाक्य का छिड़काव करेगा तो अखण्ड स्वरूप में स्थित हो जायेगा।

प्रवचन-५

आत्मा में अर्थात् अपने में ही परमात्मस्वरूप की उपलब्धि करनी है। प्रश्न होता है कि अनात्मा में आत्मा की उपासना का विधान करना जब सम्भव ही नहीं है तो शास्त्रों में ऐसा क्यों किया गया ? उसका जवाब देते हैं—

'अथान्येषु प्रतीच्छामि साधुष्ठानमनपेक्षया।'

जब हमारे अन्दर किसी न किसी अनात्म-पदार्थ की इच्छा है, तब अनात्म-पदार्थ की इच्छापूर्ति के लिये अनात्म-उपाधि के द्वारा ही उस आत्मा की उपासना करने से उस अनात्म-पदार्थ की प्राप्ति होगी। हमारे यहाँ एकेश्वरवाद और बहुदेववाद के वर्णन से इसके रहस्य को स्पष्ट किया गया है। एक तरफ तो शास्त्र कहते हैं कि सृष्टि-स्थिति-लय करने वाला एक ही परमात्मा है, एक ही ईश्वर है। दूसरी तरफ इन्द्र, मित्र, वरुण, विष्णु रुद्र इत्यादि अनेक देवता बताये गये हैं। तब प्रश्न होता है कि जब ईश्वर एक ही है तो ये बहुदेव कैसे ? और यदि तत्-तत् कार्यों को करने वाले तत्-तत् देवता अलग-अलग हैं तो एकेश्वर कैसे ? उसका समाधान यहाँ बतला रहे हैं कि सर्वत्र वस्तुतः तो एक ईश्वर ही फल देने वाला है। परन्तु जब हमारी भिन्न-भिन्न अनात्म-पदार्थों की इच्छा होती है तब वह उपाधि के द्वारा परिच्छिन्न होकर उपास्य हो जाता है।

पहले अपने में समझ लो। समग्र ज्ञानों को करने वाला मैं हूँ। समग्र क्रियाओं को करने वाला मैं हूँ। मेरे बिना न कोई ज्ञान यह शरीर-मन आदि कर सकते हैं न क्रिया कर सकते हैं। 'मैं' अनेक तो नहीं हूँ। परन्तु यदि मुझे देखने की इच्छा है तो मुझे आँख में आना पड़ेगा। देख तो मैं रहा हूँ परन्तु आँख रूप उपाधि से ही मैं देख सकता हूँ, कान रूप उपाधि से नहीं देख सकता। जब मैंने अपने ज्ञान का परिच्छेद कर दिया—मुझे इस समय केवल देखने का काम करना है, तो उस परिच्छिन्नता के लिये मुझे आँख की परिच्छिन्नता भी लेनी पड़ेगी। इसी प्रकार अगर हमें चलने की इच्छा है तो हमें पैर की उपाधि लेनी पड़ेगी। सारे शरीर में ज्ञान करने वाला, क्रिया करने वाला एकमात्र मैं हूँ परन्तु आँख में बैठकर देखने वाला, कान

में बैठकर सुनने वाला, जबान में बैठकर बोलने वाला, पैर में बैठकर चलने वाला—परन्तु क्या इतने मात्र से मैं अनेक हो जाता हूँ ? ऐसा तो नहीं है कि द्रष्टा कोई और है, श्रोता कोई और है, वक्ता कोई और है, गन्ता कोई और है। मेरी अखण्डता बने हुये ही इन उपाधियों के द्वारा मैं उन-उन परिच्छिन्न ज्ञान और क्रियाओं को करता हूँ। हम यह कहते हैं कि 'मुकुट बिहारी ने हमसे यह कहा'; उसने जो बात कही उसको तो कान ने सुन लिया। मुकुट बिहारी को आँख ने देखा। आँख और कान, दोनों के ज्ञान को मिलाकर मुझे यह अनुभव हुआ कि मुकुट बिहारी ने कहा। अथवा जब मैं गुलाब के फूल का वर्णन करता हूँ तो उसके सुंदर रंग को भी बतलाता हूँ, उसकी सुंदर सुगंध भी बतलाता हूँ, उसके कोमल स्पर्श का वर्णन भी करता हूँ, उसके अन्दर होने वाला जो हलका कड़वा स्वाद है उसकी भी प्रशंसा करता हूँ। इन सब चीजों को मिलाकर मैं उसको गुलाब का फूल कहता हूँ। एक बार हम कहीं गये। सर्दी का मौसम था। उनके बगीचे में गुलाब बहुत खिले हुये थे। हमने देखा। मन में शंका हुई कि इस मौसम में इतने गुलाब कैसे खिले हुये हैं ? हम जरा पौधों के पास जाकर सूँघने लगे, तो वे लोग सब हँस पड़े। सब नकली गुलाब थे ! हरे धागे से बाँध दिये थे तो दूर से दीखता था कि टहनी पर लगे हुए हैं। आँख उसको गुलाब बतला रही है, नाक उसको गुलाब नहीं बतला रहा, तो निश्चय हो जाता है कि यह सचमुच में गुलाब नहीं है। आँख तो उसके गुलाब होने को ही देखेगी परन्तु मैं आँख और नाक दोनों की उपाधियों को मिलाकर देखने वाला होने से कह सकता हूँ यह नकली है। आँख उसको नकली नहीं बता रही है, नाक उसको गुलाब नहीं बतला रहा है। नाक तो देख नहीं सकता। आँख उसको गुलाब ही बतला रही है। और मैं इन दोनों चीजों को मिलाकर जानने वाला यह कहता हूँ 'यह नकली गुलाब है'।

जैसे हम एक अखण्ड बने रहते हैं सारे ज्ञानों व सारी क्रियाओं को मिलाकर, परन्तु तत्-तत् काल में तत्-तत् उपाधि से ही ज्ञान या क्रिया करते हैं उसी प्रकार अनेक देवताओं के द्वार परमेश्वर ही सारे कार्य कर रहा है। जिस अनात्म-पदार्थ की प्राप्ति की इच्छा है उस के अनुरूप उपाधि को लेना पड़ेगा। यदि हम धन की कामना वाले हैं तो लक्ष्मी की उपाधि में उसी परमेश्वर को देखेंगे। अगर हमें विद्या की आवश्यकता है

तो सरस्वती की उपाधि में हम उसी परमेश्वर को देखेंगे। परमेश्वर एक ही बना रहता है लेकिन जब वह धन देना चाहता है तो लक्ष्मी के विग्रह के द्वारा देता है, जब वह ज्ञान देना चाहता है तब वह सरस्वती के विग्रह के द्वारा देता है इत्यादि-इत्यादि। उन-उन उपाधियों से देता है इसलिये उन-उन उपाधियों के द्वारा हम उसका ध्यान-धारणा-पूजा-पाठ जो भी है, करते हैं। तो **'अन्येषु प्रति इच्छामि'**—जब तक हमें अनात्म-पदार्थों की इच्छा है तब तक हम उसकी उपासना आत्मा से भिन्न जो आदित्यादि केन्द्र हैं वहाँ करते हैं। परन्तु जब हमारे अन्दर अनात्मा की इच्छा नहीं रह गयी तब **'अनपेक्षया साधुष्ठानम्।'** जब हमको किसी अनात्म-पदार्थ की अपेक्षा नहीं रह गयी तब गुहाशय की उपासना करेंगे।

भगवान् ने गीता में चार प्रकार के भक्त बतलाये। उनमें से तीन तो हैं अपने से भिन्न चीज की इच्छा करने वाले 'आर्तो, जिज्ञासुः, अर्थार्थी।' 'आर्त' कहता है 'मेरा दुःख हटे' तो दुःखनिवृत्ति रूप अनात्म-पदार्थ को चाह रहा है। अपने आप को तो चाह नहीं रहा, दुःख की निवृत्ति को चाह रहा है। 'जिज्ञासु' किसी न किसी चीज को जानना चाह रहा है। 'अर्थार्थी' किसी न किसी धन-दौलत संपत्ति को चाह रहा है। इन सारी चीजों को जो चाह रहे हैं वे तो सारे अपेक्षा वाले हुये। चौथा है जिसको न दुःखनिवृत्ति चाहिये, न किसी अनात्म-पदार्थ की प्राप्ति चाहिये अर्थात् न वह किसी अनात्म-पदार्थ की निवृत्ति चाहता है न किसी अनात्म पदार्थ की प्राप्ति चाहता है; न वह अनात्म-पदार्थ को जानना ही चाहता है। मान लो हम जानना चाहें कि चुनाव किस दिन होने वाला है। तो तुम यह नहीं कह सकते कि हम आर्त हैं। नहीं जानेंगे तो हमें कोई सिरदर्द नहीं हो रहा है या कोई दिक्कत नहीं हो रही है; हमें कोई दुःख नहीं है उसे नहीं जानकर। और जानकर हमें कुछ मिलने वाला भी नहीं है—अर्थार्थी भी नहीं हैं। परन्तु फिर भी ज्ञान की खुजलाहट होती है। हमारे एक बड़े प्रिय भक्त थे। एक दिन हमसे आकर कहने लगे कि 'महाराज ! आज पता लगा कि क्यों प्रातः स्मरणीय पूज्य महाराजजी हमेशा ऐसा कहा करते हैं कि अखबार मत पढ़ा करो।' हमने पूछा कि, 'आज अकस्मात् आपको कैसे पता लगा?' कहने लगे, 'पूजा पाठ के पहले मैं कभी अखबार पढ़ता नहीं।' हम लोग बराबर मना करते हैं तो उतना वे मानते थे। उस दिन स्नानादि करके वे अपने

पूजा के कमरे में जा रहे थे। अखबार वाला अखबार बरांदे में फेंक ही जाता है तो आँख पड़ गई। उस पर लिखा हुआ था 'केनेडी की हत्या'। तो कहने लगे, 'उसके बाद मैं जितनी देर पूजा करता रहा मेरे मन में यह आता रहा—क्यों मारा, किसने मारा, किसलिये मारा ? बस यही चलता रहा। नियम से पूजा पूरी तो की पर यह पता लग गया कि कैसे व्यर्थ की जिज्ञासा एकाग्रता में बाधक बनती है।' उनका केनेडी से कोई लेना-देना नहीं, कोई उससे व्यापार नहीं, कोई उसेस रिश्तेदारी नहीं, कुछ नहीं—पर ज्ञान की खुजलाहट जो होती है वह भी मनुष्य को किसी न किसी बाह्य ज्ञान के लिये प्रवृत्त कर देती है।

इन तीनों को तो भगवान् ने बतलाया कि ये सब इच्छा वाले हैं। परन्तु चौथा जो भक्त है वह ज्ञानी है, जिसको अनपेक्षा है। न वह दुःख-निवृत्ति चाहता है, न वह कुछ जानना चाहता है, न वह किसी अर्थ की प्राप्ति चाहता है। क्यों नहीं चाहता है ? तो उसने इस बात को जान लिया है कि एकमात्र परमात्मा के सिवाय और कोई चीज वास्तविक है नहीं। विचार करो, सपने के अन्दर तुमने किसी अलमारी में एक करोड़ रुपये बंद कर दिये, ताला लगा दिया, चाबी लटका दी और आँख खुल गयी। उठने के बाद तुम्हें पता तो है कि मैं एक करोड़ रुपये वहाँ तिजोरी में रखकर आया हूँ। परन्तु चाबी को ढूँढते हो, तो कहाँ चाबी है! अथवा अलमारी को ढूँढने जाते हो तो कहाँ अलमारी है। याद तो तुमको है, प्रतीति तो तुमको है परन्तु ढूँढते नहीं क्योंकि जानते हो कि वह सब था नहीं। अथवा तुमको वहाँ पर कोई बड़ा भारी रोग हो गया, डॉक्टर लोग कह रहे हैं 'बहुत बच कर रहना, जान को खतरा है। फेफड़े बिल्कुल गड़बड़ हो गये हैं।' आँख खुल गई। गर्मी का मौसम है। क्या तुम जाकर स्वेटर पहनते हो कि मुझे निमोनिया हुआ है ? याद तो तुमको है कि स्वप्न में तुम्हें निमोनिया हुआ था परन्तु चूँकि तुम जानते हो कि वह सच्चा नहीं इसलिये उसकी निवृत्ति के लिये भी कोई प्रयत्न करते नहीं। न ही वहाँ जिज्ञासा ही होती है—आखिर मैं अलमारी में छोड़ आया था, वे रुपये किसको मिले ? ऐसी कोई जिज्ञासा होती है ? इसी प्रकार जब हम ज्ञान को प्राप्त करते हैं तो इस जाग्रत् के भी जितने पदार्थ हैं वे हमारे लिये वैसे ही मिथ्या हो जाते हैं जैसे अभी स्वप्न के। अतः संस्कारवशात् प्रतीति होने पर भी उनके प्रति प्रवृत्ति या

निवृत्ति की कोई इच्छा होती नहीं। इसलिये तीनों की अपेक्षा, भगवान् ने कहा कि ज्ञानी तो मेरा स्वरूप है, मेरा आत्मा है। बाकी तीन भी मुझे प्रिय हैं। दोनों में फर्क समझना। आत्मा से भिन्न चीज प्रिय हुआ करती है परन्तु आत्मा परम प्रिय हुआ करता है। इसलिये भगवान् ने कहा 'उदाराः सर्व एवैते' सभी मुझे प्रिय हैं परन्तु ज्ञानी तो आत्मा हो जाता है।

जब इस प्रकार अनपेक्षा हो जाती है तब किसी उपाधि के अन्दर उसका चिन्तन करना अनावश्यक भी हो जाता है, व्यर्थ भी हो जाता है, फलप्रद भी नहीं रहता क्योंकि किसी फल को चाहते ही नहीं। ज्ञानी दोनों ही लोग हैं--जिसे ज्ञान हो गया वह और जो परमात्म-ज्ञान मार्ग का पथिक है वह भी। आचार्य शंकर लिखते हैं कि सभी जगह अध्यात्म-शास्त्रों में यह नियम है कि सिद्ध का जो स्वरूप होता है, सिद्ध जिस चीज को स्वभाव से करता है, साधक उस चीज का प्रयत्नपूर्वक अनुष्ठान करे। सिद्ध और साधक में इतना ही फर्क है--जब तक तुम को प्रयत्न करके करना पड़ता है तब तक साधक हो ओर जब तुम स्वभाव से करते हो तो सिद्ध हो। ठीक जिस प्रकार कलम में स्याही भरकर विचारों को प्रकट करना--यह कॉलेज का विद्यार्थी भी करता है और बर्नार्ड शा भी करते हैं। उनको भी कलम में स्याही भरनी पड़ती है, उनको भी कागज पर ही लिखना पड़ता है और अपने विचारों को प्रकट करना पड़ता है। परन्तु फर्क क्या है ? विद्यार्थी को विचारपूर्वक बार-बार सोचकर लिखना पड़ता है, व्याकरण की दृष्टि से ठीक है या नहीं, इससे बेहतर शब्द यहाँ आ सकता है कि नहीं, यह सब सोचकर करना पड़ता है। जो सिद्ध लेखक है उसको यह नहीं करना पड़ता है। वह स्वभाव से ही ठीक लिखता जाता है। ठीक इसी प्रकार अध्यात्म-विद्या के अन्दर ज्ञानी का जो स्वभाव है, वह साधक के लिये यत्नसाध्य है। ज्ञानी का तो अनपेक्षा स्वभाव हो गया--उसको किसी चीज की अपेक्षा होती ही नहीं। जो ज्ञानमार्ग का पथिक है वह भी ज्ञानी ही है इसलिये जब भी मन में कोई अपेक्षा आवे तो उस अपेक्षा को हटावे, अनपेक्षित बनने का प्रयत्न करे। जितना जितना विचार करेगा उतना उतना वह समझ लेगा कि पदार्थों की प्राप्ति और निवृत्ति, यह तो सहज स्वभाव से प्रारब्ध के द्वारा होती ही रहती है, इसलिये इनकी अपेक्षा करना व्यर्थ है। तब फिर **'साधुष्ठानम्'** तब वह साधु अर्थात् अच्छी तरह से, भली

प्रकार से अनुष्ठान कर पाता है।

यहाँ आपस्तम्ब महर्षि ने 'साधुष्ठानम्' को बीच में रखा है--'अथान्येषु प्रतीच्छामि साधुष्ठानम्' इधर भी लग जाता है और 'अनपेक्षया साधुष्ठानम्' उधर भी लग जाता है। जब तक हमको अनात्म-पदार्थों की इच्छा है तब तक तो जिस पदार्थ की इच्छा है उस उपाधि के अन्दर ही उपासना इत्यादि करना ठीक अनुष्ठान है, अन्यथा गड़बड़ हो जाता है। अगर तुम इच्छा को रखते हुए और बिना उपाधि के निरुपाधिक परमेश्वर का अनुष्ठान करने लगोगे तो जो चीज तुम चाहते हो वह फलेगी नहीं। दक्षिण भारत के एक साधक थे। आजकल लोग जहाँ चाहे जाकर चाहे जो सीख लेते हैं। उनको किसी ने एक विशिष्ट उपासना बता दी। वह कर रहे थे। उस प्रसंग में उन्होंने हमसे भी पूछा कि यह उपासना ठीक है कि गलत है। परमेश्वर के शुद्ध रूप की उपासना थी तो हमने कहा कि बहुत अच्छी है। साल-दो साल हो गये। उनकी फैक्टरी जल गयी। काफी नुकसान हुआ, बड़े दुःखी हुये। आये। कुछ दिन के बाद उनका एक छोटा बच्चा था, वह मर गया। अब वह बहुत ज्यादा दुःखी हो गये। हमसे कहने लगे कि, 'महाराज ! मैं इतना भजन करता हूँ फिर यह मेरे साथ क्यों हुआ ?' अब हमारा माथा ठनका। हमने कहा, 'जब तुम्हें यह उपासना बताई गई थी तब क्या तुमने अपनी स्थिति ठीक तरह से उनको बताई थी जिन्होंने तुमको यह उपदेश दिया ? फैक्टरी तुमने खड़ी की थी या तुम्हारे पिता ने खड़ी की थी ?' बोले, 'मैंने खुद अपने परिश्रम से खड़ी की थी।' 'उसके प्रति तुम्हारा मन आसक्त था ?' बोले, 'यह तो होता ही है। अपने हाथ से मैंने बड़ी कठिनाई से काम किया और वह जल गयी।' हमने कहा, 'छोटे पुत्र के प्रति तुम्हारा प्रेम बहुत ज्यादा था ?' बोले, 'हाँ महाराज! वह देखने में भी सुंदर जरा ज्यादा था, उसकी किलकारियाँ हमको प्रिय लगती थीं।' हमने कहा, 'यह बात तुमने उनको कहीं थी जिनसे तुमने उपदेश लिया ? तुम जो उपासना कर रहे हो वह परमात्मा की ओर जाने में बाधक जितनी चीजें हैं उनको हटाने की सामर्थ्य वाली है।' हमने उसे वह प्रसिद्ध कथा बतलायी--

एक बार भगवान् नारद के साथ संन्यासी का रूप लेकर किसी बहुत बड़े आदमी के घर पहुँचे और भिक्षा माँगी। चौकीदार तो कह ही रहे थे

हटने को, कि 'यह सब यहाँ नहीं होता है, किसी को यहाँ कुछ नहीं देते हैं', तब तक सेठ भी आ गये। भगवान् ने सेठजी से कहा, 'जी बहुत दिन से भूखे हैं कुछ भिक्षा हो जाती।' सेठजी ने चौकीदारों को डाँटा, 'अरे तुम लट्ठ मारकर इनको निकालते नहीं ? तुम को किस बात के लिये रखा है ? मारो इनको।' तो एकाध लट्ठ लग भी गया। फिर वहाँ से जब गये तो भगवान् ने कहा, 'इसके खूब धन होवे। खूब इसको धन-सम्पत्ति मिले।' वहाँ से गये तो गाँव के किनारे झोंपड़ी में रहने वाला एक आदमी था जिसके पास केवल एक गाय थी। वहाँ पहुँचकर भगवान् ने कहा, 'अरे भूख लगी है।' उसने कहा, 'अभी लीजिये।' वह गया, गाय को दुहा, दूध गरम किया, भगवान् को पिलाया, नारदजी को पिलाया। भगवान् ने कहा, 'भाई बड़ी तृप्ति हुई।' जब वहाँ से निकले तो कहने लगे, 'बड़ा बढ़िया दूध पिलाया, बड़े प्रेम से पिलाया। अब तो जल्दी इसकी गाय मर जाये।' नारद जी ने कहा, 'महाराज ! कहीं इस कलि का असर तो आप पर नहीं आया ? उसने लट्ठ मारा तो कहते हैं धन बढ़ जाये। इसके बिचारे के एक गाय है और उसीको आप कह रहे हो मर जाये !' भगवान् ने कहा, 'देखो, मेरा दर्शन अमोघ दर्शन है। मुझे जो देखेगा उसकी कामना पूर्ण न होवे यह तो हो नहीं सकता। दोनों ने मुझे देखा तो है ही। उसके मन में धन की कामना थी इसलिये उसको तो मैंने धन दे दिया। उस धन से उसका गर्व और बढ़ेगा। बढ़कर वह और पापों में प्रवृत्ति करेगा। आगे नरक का रास्ता लेगा। यह तो मुझे लट्ठ मारने का फल है। परन्तु मुझे देखा है, मेरा अमोघ दर्शन पाया है, इसलिये धन तो बढ़ना ही है—उसीकी उसे इच्छा है। इसको केवल मोक्ष की इच्छा है परन्तु इसके मोक्ष की रुकावट केवल यह गाय की सेवा है। कभी गाय का चारा करना है, कभी कुछ करना है इसलिये निरंतर भक्ति कर नहीं पाता। गाय मर जायेगी तो इसका वह विघ्न दूर हो जायेगा, फिर यह निरंतर मेरे भजन में लगकर मुक्त हो जायेगा। दो इसकी भी इच्छा पूर्ण हो गई और उसकी भी। इसकी प्रेम वाली इच्छा है इसलिये यह मुक्त हो जायेगा। उसकी घृणा की इच्छा है तो घृणा के कारण उसको नरकादि की प्राप्ति होगी।'

उस व्यक्ति से हमने कहा, 'तुम जो उपासना कर रहे हो वह कर रहे हो 'अनपेक्षया'। तो जो-जो तुम्हारे प्रेम का विषय है वह-वह भगवान् दूर

करेंगे तुम्हारी उपासना के फल से। और अगर तुम्हें अपेक्षा है तो यह उपासना तुम्हारे काम की नहीं।' जब तक 'अन्येषु प्रतीच्छामि' तब तक तो भली प्रकार तुम उपाधि वाले परमेश्वर का ही अनुष्ठान करो। 'साधुष्ठानम्' उधर भी लग जायेगा। और जब अनपेक्षा हो जाये तब तुम सारी उपाधियों को छोड़कर अपना जो अहम् प्रत्यय है उसके अन्दर ही अनुष्ठान करो।

इसलिये आपस्तम्ब महर्षि कहते हैं—**'एतद्धितं सेवस्व न अहितम्'** जो तुम्हारे लिये हितकारी है उसीका सेवन करो। जो तुम्हारे लिये तुम्हें अहित लगता हो उसका सेवन न करो। यदि पुत्र-वित्त-लोकादि सुख से तुम निःस्पृह हो गये हो तब तुम आत्मा का अनुष्ठान करो। इसलिये भगवान् भाष्यकार लिखते हैं—'नहि आत्मानुष्ठानं बाह्यार्थाकांक्षा च सह संभवतः' बाह्य पदार्थों की आकांक्षा और परमात्मा का अनुष्ठान ये साथ-साथ नहीं होते। हैं दोनों ही परमेश्वर के अनुष्ठान लेकिन जिस प्रकार अन्यत्र ब्रह्मसूत्र में भाष्यकार लिखते हैं—कोई पटना में रहने वाला एक साथ ही गंगोत्री और गंगासागर जाना चाहे तो कैसे जाये ? जितना जितना गंगोत्री की तरफ जायेगा उतना-उतना गंगासागर से दूर होगा। इसी प्रकार जितना-जितना परमात्मा की तरफ जायेगा उतना उतना अनात्मा से दूर होता जायेगा और जितना-जितना अनात्मा की तरफ जायेगा उतना-उतना परमात्मा से दूर होता जायेगा। गंगासागर भी है गंगा ही, गंगोत्री भी है गंगा ही। इसी प्रकार नामरूप-विशिष्ट आदित्यादि जो रूप हैं वे भी हैं परमेश्वर ही और अपने प्रत्यक् आत्मा के अन्दर, अहम् प्रत्यय के अन्दर भी रहने वाला है परमात्मा ही। परन्तु वे सारी चीजें अनात्म-पदार्थों को देने वाली हुईं और यह हो गया आत्म-पदार्थ को देनेवाला। यह जो हित और अहित का भेद है इसको सामने रखकर काम करना है।

प्रवचन-६

परमात्मा की ओर जाने की कोशिश करने वाले को विषयों का आकर्षण छोड़ना ही पड़ेगा। जब निश्चय हो जाये कि परमात्मा को पाना है तब विषयों की ओर मत दौड़ो। क्या नहीं करो ? इनकी तरफ *दौड़ो* मत। अभी यह नहीं कह रहे हैं कि इनकी तरफ *जाओ* मत। इनकी तरफ दौड़ो नहीं। भगवान् ने भी कहा—

'रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।'

'विषयान् इन्द्रियैः चरन्' —इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण करते हुये, उसमें चरण करते हुये। जाने का मना नहीं कर रहे हैं। जाना तो तब बंद होगा जब तुम्हें तत्त्वज्ञान होगा। किस चीज़ को मना कर रहे हैं ? राग-द्वेष को। 'राग-द्वेष-वियुक्तैस्तु' इन्द्रियों से राग और द्वेष को हटाना है। दौड़ लगवाता है राग-द्वेष। बिना राग-द्वेष के तुम आचरण तो करोगे, दौड़ोगे नहीं। सवेरे नौ बजे दुकान खोलनी है। शाम को आठ बजे बंद करनी है। जो राग-द्वेष-वियुक्त होगा वह सवेरे नौ बजे के पहले दुकान नहीं खोलेगा। कहोगे, 'महाराज आजकल तो सरकार खोलने नहीं देती है।' वह तो तुमको दुकान का दरवाजा नहीं खोलने देती। पर तुम्हारा मनीराम तो दुकान को फैलाकर काम करने लग जाता है ! सवेरे छह बजे से लोग दूरभाष करने लगते हैं, व्यापार-धंधा शुरू कर देते हैं। इसी प्रकार रात को आठ बजे तो दुकान बंद कर दी। भौतिक दुकान तो सरकार बंद करवा देती है। वहाँ से बाप बेटे चले तो मोटर में भी व्यापार करते हैं। घर आये खाने बैठे तो बेचारी घरवालियाँ परेशान हो जायेंगी। उनकी बात कुछ समझ नहीं आती—उसको यह देना, उसका वह करना। 'दुकान' चल रही है दोनों की। जब तक नींद नहीं आयेगी तब तक दुकान चलती है। यह है दौड़ना। सवेरे नौ बजे तक दुकान नहीं खोलना है। सवेरे उठना है, भजन-पूजन करना है। उस समय उस दुकान को अपने मन में नहीं खुलने देना है। ठीक इसी प्रकार रात में काम खत्म हुआ तो उसको घर लेकर नहीं आना है। घर आकर पिता-पुत्र व्यापार ही क्यों करें, दूसरी अनेक बातें हैं।

अध्यात्म की बात करो, कुछ नैतिक चीजों की बात करो, अनेक विषय हैं बोलने के लिये, घर के सुख-दुःख की बात करो। आजकल तो घर के सुख-दुःखकी बात के लिये भी समय नहीं है। यह है दौड़ना।

विषयों की तरफ जो दौड़ लगाई जाती है वह तुम्हारे लिये अहितकारी है। राजेंद्र प्रसाद किसी एक मुकदमे को लेकर लन्दन गये। वे बड़े अच्छे वकील थे। परन्तु वहाँ की अदालत के लिये वहाँ के बैरिस्टर को करना पड़ता था। उन्होंने उससे यह जिक्र कर दिया कि 'भाई ! इस केस पर जरा अच्छी तरह से विचार कर लेंगे, परसों रविवार है, छुट्टी रहेगी, अपने दोनों बैठकर सोच-समझ लेंगे।' उसने कहा 'रविवार ? रविवार तो छुट्टी का दिन है। मैं तो शनिवार को बारह बजे जब अपने कार्यालय से चलता हूँ तब सारे कार्यों को यहीं खत्म करके चलता हूँ। उसके बाद सोमवार को सवेरे आठ बजे तक मैं वकील नहीं हूँ।' राजेन्द्र प्रसाद अपनी जीवनी में लिखते हैं कि अपने देश में प्रायः वकील शनिवार-रविवार को (छुट्टी वाले दिन) केस पर आपसी विचार-विमर्श करते हैं। मुझे वहाँ समझ में आया किसको कहते हैं छुट्टी ! ईसाइयों में छुट्टी का विचार जाग्रत् रहता है। जिस समय जो काम करना है उस समय उस काम में एकाग्रता लानी चाहिये। चाहे छुट्टी का काम हो चाहे दूसरा काम हो। विश्राम करना अलग बात है, आलस्य करना अलग है। शरीर को, मन को विश्राम चाहिये। विश्राम होने के बाद जब तुम उसको व्यर्थ में पड़ा रखते हो तब वह आलस्य है। विश्राम तो शरीर-मन की आवश्यकता है और आलस्य को तमोगुण आवश्यक बनाता है। जब तक हमें आचरण करना है तब तक राग द्वेष से रहित होकर विषयों के साथ आचरण करना है।

कर कब पाओगे 'आत्मवश्यैः' जब तुम बाकी चीजों को अपने वश में करोगे, उनके वश में नहीं होगे। अभी तो हम लोग शरीर-मन इन्द्रियों के वश में बने रहते हैं क्योंकि यही सर्वत्र याद रहता है। कामना कहाँ रहती है ? भगवान् ने कहा है इन्द्रियों में रहती है, मन में रहती है, बुद्धि में रहती है। 'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।' इन्द्रिय मन और बुद्धि इनमें राग-द्वेष रहते हैं। इसलिये राग-द्वेष से रहित कब होगे ? जब तुम शरीर-इन्द्रिय-मन-बुद्धि को अपने वश में रखोगे। जब इसको वश में करोगे तब 'विधेयात्मा' तुम्हारे शरीरादि तुम्हारे विधान से चलेंगे। अन्यथा

तुम इनके विधान में चलते हो, तुम इनको अपने विधान में चला नहीं पाते। जब तक तुम्हारा इनके ऊपर वश नहीं होगा, जब तक तुम अपने आत्म-विधान के अनुसार इनको नहीं चलाओगे तब तक कभी प्रसन्नता की प्राप्ति नहीं हो सकती, शांति की प्राप्ति नहीं हो सकती। जब इस प्रकार राग-द्वेष से रहित आचरण करोगे तब 'प्रसादमधिगच्छति'--प्रसन्नता की प्राप्ति, शांति की प्राप्ति होगी।

हितकारी क्या है ? विषयों से राग-द्वेष से रहित होकर आचरण करना। अहितकारी क्या है ? राग-द्वेष के कारण इनमें प्रवृत्त होकर आचरण करना। अब इन दोनों का फर्क करने वाला है क्या ? यदि तुम चाहते हो कि हमको दुःखनिवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति हो अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति हो तो इस हित का आचरण करोगे और यदि तुम चाहते हो कि आत्यंतिक दुःखनिवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति नहीं, क्षणिक दुःखों की निवृत्ति और क्षणिक सुखों की प्राप्ति होवे तब अहित करते रहोगे। कहोगे कि महाराज यह तो हम नहीं चाहते। लेकिन होता यह है कि जब परिस्थिति सामने आती है तब मन करता है कि इस समय इस चीज को निपटा लो, आगे तो परमात्मा की प्राप्ति ही करनी है ! अपने मन को टटोल कर देखोगे तो हमेशा यह पाओगे कि जिस समय जो परिस्थिति आती है तुरंत होता है कि 'इस को तो निपटा लूँ आगे फिर नहीं करूँगा'। और प्रकृति का विधान हमेशा ऐसा है कि फिर आगे दूसरी परिस्थिति आ जाती है। बच्चा हुआ नहीं तब तक चिंता है कि बच्चा हो जाये फिर कोई बात नहीं। बच्चा हो गया। बच्चा पढ़ता नहीं, बच्चा पढ़ ले फिर कोई बात नहीं। पढ़ लिया। पढ़ तो लिया लेकिन कम से कम ब्याह तो मैं कर ही दूँ। ब्याह कर दिया तो थोड़ा बहू को समझा दूँ, साल दो साल। अब कम से कम इसकी गोद तो भर ही जाये। हर बार लगता है 'बस यह करें फिर हमें और कोई काम नहीं, परमात्मा का ही चिंतन करेंगे'। इस प्रकार यद्यपि हम यह सोचते हैं कि हम क्षणिक दुःख की निवृत्ति नहीं चाहते, क्षणिक सुख की प्राप्ति नहीं चाहते तथापि राग द्वेष के कारण इस प्रकार क्षणिक चीजों की प्राप्ति-अप्राप्ति करते हुये जीवन निकल जाता है।

इसलिये आपस्तम्ब महर्षि कहते हैं--'एतद्धितं सेवस्व।' जब ऐसी परिस्थिति आवे तो हमेशा अपनी दृष्टि यही रखो कि आत्यंतिक दुःख की

निवृत्ति, परमानन्द की प्राप्ति रूप परमेश्वर की तरफ जाना है, तब तो इनका आचरण कर पाओगे; और यदि तुमने अनात्मपदार्थ की तरफ दृष्टि कर ली कि 'इसको निपटा लूँ' तो अहित का आचरण कर जाओगे। व्यवहार एक ही होता है। व्यवहार में फर्क नहीं पड़ता। फर्क तो पड़ता है किस *प्रकार* से तुम व्यवहार करते हो।

किस आदर्श को सामने रखना है--

'महान्तं तेजस्कायं सर्वत्र निहितं प्रभुम्।।६।।

सर्वभूतेषु यो नित्यो विपश्चिदमृतो ध्रुवः।।७।।'

'सर्वत्र निहितं प्रभुम्'--जो प्रभु सब चीजों में, सब प्राणियों के अन्दर छिपा हुआ बैठा है। निहित अर्थात् छिपा हुआ। है तो वह प्रभु, है तो वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वसामर्थ्य वाला; परन्तु वह इसको छिपा कर रखता है। यही उसकी लीला है। लीला का अर्थ ही है कि तुम्हारे में सामर्थ्य है परंतु तुम उस तथ्य को छिपा कर रखते हो। बूढ़ा दादा है, छोटा पोता कहता है 'घोड़ा बन जाओ मैं आप के ऊपर चढ़ूँगा।' तो दादा घोड़ा बन जाता है, पोता उसके ऊपर चढ़ जाता है। मुक्का भी मारता है 'चलो, चलो।' चलता भी है। उसकी सामर्थ्य तो है कि उसी समय बच्चे को गिरा कर चार-पाँच थप्पड़ मार दे, पर यह नहीं करता। अकस्मात् कोई मिलने वाला आये तो झट से बच्चे को पीठ से उतार देता है। उनसे मिल लेता है। वह पूछता है, 'क्या कर रहे थे ?' दादा बोलता है, 'कुछ नहीं, बच्चे से खेल रहे थें।' सारी सामर्थ्य होने पर भी छिपा कर रख सकना--यह प्रभुता है। हर जगह मनुष्य अगर अपनी सामर्थ्य प्रकट ही करता रहे तो वह प्रभुता नहीं होती, लीला नहीं होती। लीला का आधार ही है सामर्थ्य होने पर भी सामर्थ्य का छिपा रहना। चेतन जो सर्वत्र विद्यमान है वह सर्वत्र हर समय ही, हर देश-काल में प्रभु ही है। उसकी सामर्थ्य को कोई हटा नहीं सकता। बस वह सामर्थ्य निहित है, छिपी हुई है। इसलिये कहा उसे आदर्श रखना है, सामने रखना है।

'महान्तम्'--वह महान् है। महान् उसे कहते हैं जो दूसरो से बड़ा हो, आगे उससे बड़ा कोई न होवे। तभी उसको महान् कहा जाता है। छांदोग्य उपनिषद् में पूछा है : परमात्मा किस में प्रतिष्ठित है ? वहाँ क्रम बतलाया

कि यह इसमें प्रतिष्ठित है, यह इसमें है। अंत में पूछा वह भूमा किस में प्रतिष्ठित है ? कहा वह अपनी महिमा में खुद ही प्रतिष्ठित है। उसे महान् कोई दूसरा नहीं बनाता है। इसलिये वह महान् रूप ही है।

'तेजस्कायम्'—तेज ही उसका काय है अर्थात् उसका शरीर है। तेज का मतलब क्या ? भाष्यकार लिखते हैं—

'चैतन्यात्मज्योतिःस्वरूपम्। तद्धि तेजसां तेजः।'

चैतन्य आत्मज्योति को तेज कहते हैं। आँख से दीखनेवाला तेज वह नहीं है। इसलिये अन्यत्र श्रुति कहती है—'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' उस परमात्मा से यह सूर्य भी चमक रहा है—उसकी चमक से सूर्य चमक रहा है। सूर्य की चमक से सब चीजें चमक रही हैं। परन्तु सूर्य किसके तेज से चमक रहा है ? जरा विचार करके देखो। हजार अंधों को इकट्ठा खड़ा कर दो। जेठ के महीने में, दोपहर में। उनसे पूछो 'सूर्य चमक रहा है ?' तो कहते हैं, 'महाराज हम अंधे हैं हमें क्या पता।' सूर्य के प्रकाश से उनका संबंध नहीं बनाया जा सकता। आँख का तेज हो तब सूर्य का तेज है। सूर्य के तेज को तेज कब कहा जाये ? जब तुम्हारी आँख होवे। तो तुम्हारी आँख से सूर्य का तेज है। सूर्य तेज से घट-पट को प्रकाशित करेगा परन्तु उस सूर्य के तेज को प्रकाशित करने के लिये तुम्हें आँख का तेज चाहिये। आगे उस आँख को तेजस्वी कौन बनायेगा। आँख खुली रहती है। खबर आ गई कि मेरी प्रिय पत्नी गाँव में मर गयी। एक हमारे सज्जन थे। उनकी पत्नी को हैजा हो गया। उसे लेकर अस्पताल जाना था। अच्छी भली आँख थी पर साथ वालों से कहने लगे, 'हमारी कमीज कहाँ है ? हमें तो कुछ दीख नहीं रहा !' मन जब अत्यन्त दुःख से आक्रान्त हो जाता है तो आँख देख नहीं पाती। मन के तेज से युक्त होगी तभी आँख देख सकती है इसलिये आँख मन के तेज से तेजवाली बन सकती है। आगे मन ठीक है या नहीं है इसको जानने वाले कौन ? तुम हो। कहते हो 'महाराज ! आज भजन करने बैठे पर मन लगा ही नहीं।' मन लगा नहीं—तो क्या बैटरी लेकर बैठे थे ? बैटरी से देखा था ? काहे से देखा था ? तुम खुद देखने वाले हो। आगे तुमको देखने के लिये तो किसी अन्य प्रकाश की जरूरत नहीं है। आत्मा के प्रकाश से मन प्रकाशित और मन के प्रकाश से इन्द्रियाँ प्रकाशित, इन्द्रिय के प्रकाश से सूर्य प्रकाशित, सूर्य के प्रकाश से संसार

प्रकाशित। इसलिये उपनिषद् कहती है—'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः।' उसीके प्रकाश से सब चीजें प्रकाशित होती हैं इसलिये वह तेजस्काय है, तेज ही उसका स्वरूप है। तेज मतलब क्या ? तो बताया—चेतन, आत्मज्योति।

ऐसा जो परमात्मतत्त्व है यह मत समझ लेना कि वह सिर्फ तुम्हारे अन्दर है **'सर्वभूतेषु यो नित्यः'**—सारे प्राणियों के अन्दर वह एक जैसा विद्यमान है। घास के तिनके से लेकर ब्रह्मा-विष्णु पर्यन्त वह तेज एक जैसा सर्वत्र विद्यमान है। सारे प्राणियों में है। हरेक प्राणी के अन्दर वह विद्यमान है। कैसा विद्यमान है ? नित्य है। ऐसे आत्मा का **'सेवस्व'**—यह हितकारी है इसलिये इसका सेवन करो। पहले के श्लोक में जो 'सेवस्व' है, वह क्रिया यहाँ भी लगा दी है। इसका सेवन करो। जब उसका सेवन करोगे तभी तुम सारे प्राणियों से एक जैसा अखण्ड प्रेम कर पाओगे। आनन्द का अनुभव करने वाली चीज़ सेवाकार वृत्ति है। जिससे प्रेम होगा वही आनन्द देगा। जिससे प्रेम नहीं होगा वह आनन्द नहीं देगा। जैसे जिसको तुम आँख से देखोगे उसके रूप का पता लगेगा, जिसको आँख से नहीं देखोगे उसके रूप का पता नहीं लगेगा। इसी प्रकार जिसको प्रेम से तुम विषय करोगे तो वहाँ तुमको आनन्द का अनुभव होगा। उसी चीज को यदि प्रेम से विषय नहीं करते हो तो आनन्द का अनुभव नहीं होगा।

कई बार लोग शंका करते हैं, 'महाराज, यदि कोई दुष्ट आततायी आ जाये तो उससे कैसे प्रेम करें ?' बतलाते हैं कैसे प्रेम करो, घबराना नहीं। जैसा बनकर आता है वैसी ही पूजा करनी पड़ती है। परमेश्वर यदि शंकर का रूप लेकर आता है तो बिल्वपत्र चढ़ाते हो, विष्णु का रूप लेकर आता है तो तुलसी चढ़ाते हो। ऐसे ही आततायी का रूप लेकर आयेगा तो दंडे से पूजा की जायेगी ! करेंगे पूजा ही, प्रेमपूर्वक करेंगे। कहोगे, 'प्रेमपूर्वक कैसे करेंगे दंडा मार कर ?' देखो—माता अपने बच्चे को पढ़ाती है अथवा अध्यापक पढ़ाता है। माता पढ़ाती है और बच्चा ध्यान नहीं देता; क्योंकि आजकल कई लोगों का ऐसा दुर्भाग्य हो गया है कि उनके घरों में टेलीविजन लगा है। माता उसको थप्पड़ मारकर पढ़ने के लिये बैठा देती है। विचार करो, क्या माता उसको मारकर प्रसन्न होगी ? मार तो उसने खा ली, बैठ तो वह गया। लेकिन जितना उसको दुःख हुआ उतना ही दुःख, हो सकता

है उससे ज्यादा ही दुःख, माँ को हुआ क्योंकि देख रही है कि गाल पर ललायी आ गयी है थप्पड़ की मार से। इसलिये जहाँ जिसको तुम दण्ड दे रहे हो, उसको दण्ड देते समय तुम्हारा भी मन उतना दुःखी हो रहा है जितना कि दण्ड पाने वाले का, तो वहाँ तुम प्रेम से आततायी को दण्डा मार रहे हो और यदि उसके दुःख से तुमको सुख हो रहा है तब समझ लो कि यह द्वेष से कर रहे हो। आततायी आयेगा तो उसकी फूलमाला चढ़ाकर पूजा नहीं की जायेगी। जिस रूप में आया है उसी रूप में पूजा की जायेगी। परन्तु बिल्वपत्र चढ़ाते हुए भी जानते हैं कि यह परब्रह्म परमात्मा है। तुलसी चढ़ाते हुये भी यह जानते हैं कि यह परब्रह्म परमात्मा है। उसी प्रकार फूल चढ़ाते हुये भी उसके परमात्मरूप को हम समझ लेंगे और दण्डा मारते हुये भी उसके परमात्मरूप को समझेंगे।

इसी को यहाँ कहा—**'विपश्चित्'**। भाष्यकारों ने लिखा है—'विपश्चिन्मेधावी, सर्वज्ञ इत्यर्थः'। जो सबमें रहने वाले परमात्मा का ज्ञान हमेशा रखता है उसको विपश्चित् यहाँ कहा गया है। वैसे विपश्चित् का मतलब होता है मेधावी और मेधा का अर्थ है क्रान्तदर्शन की सामर्थ्य। आततायी दीख रहा है परन्तु आततायी रूप उपाधि में रहने वाले हम सच्चिदानंद को देख रहे हैं इसलिये क्रान्तदर्शन है। ऐसा जिसका कवि हृदय नहीं होगा, जिसका हृदय पत्थर का हो गया, वह इस तत्त्व को प्राप्त नहीं कर सकता। जिनका हृदय अत्यन्त सरल होता है, प्रेम से भरा होता है वे ही इसको प्राप्त कर सकते हैं।

क्योंकि ऐसा विपश्चित् है, इसलिये **'अमृतः'** वह अमृत है और ध्रुव है अर्थात् निष्कम्प-स्वभाव है, कभी भी अपने स्वरूप से हिलता नहीं। यह जो सेवन करना है, यही हित का सेवन है। अहितकारी सेवन जो विषयों की तरफ जाने का दौड़ना है उसे भूलकर इस प्रकार अपने उद्देश्य को सामने रखते हुये राग द्वेष को छोड़कर विषयों से आचरण करते हुये हिताचरण करके अमृत व ध्रुव में स्थित होना है।

●

प्रवचन-७

'अनङ्गोऽशब्दोऽशरीरोऽस्पर्शश्च महाञ्शुचिः।
स सर्वं परमाकाष्ठा स वैषुवतं स वैभाजनं पुरम्।।७।।'

जिस परमात्मतत्त्व को प्राप्त करना है वह **'अनंगः'** अनंग है उस का कोई स्थूल शरीर नहीं है। स्थूल शरीर के ही अंग हुआ करते हैं। जिस हिस्से को तुम अलग तो कर सकते हो पर उस के रहने से उस चीज की पूर्णता होवे उसको *अंग* कहते हैं। इसीलिये शरीर के लिये दोनों शब्दों का प्रयोग होता है। जिस व्यक्ति का शरीर सारे अंगों वाला होता है उसके लिये कहा जाता है 'यह पूर्णांग है'। और यदि शरीर का कोई भी अंग कट जाता है तो कहा जाता है 'यह विकलांग है', इसका एक हिस्सा विगत हो गया है, निकल गया है। चाहे हाथ हो, पैर हो, अंगुली हो, अंगूठा हो, कोई भी एक अंग निकल जाये तो शरीर को विकलांग कहते हैं और सारे अंग पूर्ण होवें तो पूर्णांग कहते हैं। अंग वह हुआ जो अलग होने पर भी अंगी रहता तो है परन्तु विकलांग कहा जाता है। ऐसा स्थूल शरीर में तो संभव है, अन्यत्र नहीं। इसलिये जब परमेश्वर को अनंग कहा जाता है तब इसका मतलब है उसका कोई हिस्सा ऐसा नहीं जो उससे अलग किया जा सके और जिसके अलग हो जाने से वह विकलांग हो जाये क्योंकि जब अंग है ही नहीं तो उसे अंग से रहित कैसे करोगे ? परमेश्वर के अन्दर कोई अंग हो नहीं सकता अर्थात् स्थूल शरीर नहीं हो सकता। अगर परमात्मा अंग वाला हो जाता तो उसको कभी न कभी विकलांग होना ही पड़ता!

वह केवल अनंग है ऐसा नहीं, **'अशरीरः'** उसका सूक्ष्म शरीर भी नहीं है। मन, बुद्धि और प्राण—ये तीन सूक्ष्म शरीर कहे जाते हैं। शास्त्रीय भाषा में मनोमय कोष, प्राणमय कोष, विज्ञानमय कोष; मोटी भाषा में मन, बुद्धि और प्राण। प्राण—यह क्रियाशक्ति है। सारी क्रियायें प्राण से होती हैं। मन—यह भावना की शक्ति है। सारी भावनाएँ, जितने राग द्वेषादि हैं, मन के द्वारा ही होते हैं। यही इच्छाशक्ति है। बुद्धि—यह विज्ञानमय कोष, ज्ञानशक्ति है।

यद्यपि मन बुद्धि हम लोगों को एक जैसे लगते हैं तथापि दोनों का

विचार करने से फर्क स्पष्ट हो जाता है। जो चीज जैसी है उसको वैसा निश्चय करनेवाली तो बुद्धि है। बुद्धि का काम है निश्चय करना। विचार करके परीक्षा करके यह निर्णय करना कि यह ऐसा है। चाहे निर्णय गलत हो; वह और बात है। परन्तु जब तुम परीक्षा करके, विचारपूर्वक निश्चय यह करना चाहते हो कि यह क्या चीज है तब तो है बुद्धि, ज्ञान। ज्ञान चाहता है जो चीज जैसी है उसको वैसा जानूँ। यहाँ वस्तु की प्रधानता है। जिसको जानना चाह रहे हो वह प्रधान है। उसको वैसा ही जानना है।

मन जहाँ काम करता है वहाँ इच्छाशक्ति है। चीज कैसी हो तो मुझे अच्छी अथवा बुरी लगे--यह मन का विचार है। इसलिये इच्छा में जो चीज जैसी हो वैसा समझने की नहीं, उसमें कोई न कोई परिवर्तन करने की भावना है। बेटा मेरी बात नहीं मानता--यह तो ज्ञान है। बेटा मेरी बात मानने वाला हो जाये--यह इच्छा है; ऐसा परिवर्तन हो कि वह मेरी बात मानने वाला हो जाये। इन दोनों को अलग नहीं करने के कारण दोनों एक दूसरे से ग्रथित होते हैं। कई बार अनुभव करते हैं : कोई आदमी पहले तो कहेगा 'मेरा बेटा सवेरे समय से नहीं उठता। बहुत कहता हूँ। काम में पूरा ध्यान नहीं देता। बहुत समझाता हूँ।' ऐसी तीन-चार बातें कहने पर उसका मन उसकी बुद्धि को कहता है कि अपने लड़के के बारे में ऐसा क्यों कह रहा है ? फिर तुरंत कहेगा, 'फिर भी हजारों में अच्छा है। बाइस्कोप देखने नहीं जाता। टेलीविजन पर समय बर्बाद नहीं करता।' यहाँ तुम्हें पता नहीं लग रहा है कि तुम्हारी दोनों शक्तियाँ अलग अलग रूप से काम कर रही हैं। इच्छा शक्ति चाहती है अलग चीज और ज्ञान शक्ति अलग चीज।

इस प्रकार मन बुद्धि और प्राण--ये तीनों मिलकर सूक्ष्म शरीर कहे जाते हैं। इनको शरीर क्यों कहते हैं ? शरीर का मतलब होता है 'शीर्यते' जो शीर्ण होता रहे। कार्य करके जिसके अन्दर कोई न कोई थकावट आ जाये। स्थूल शरीर को भी इसलिये शरीर कह दिया जाता है क्योंकि वह भी कार्य करके थक जाता है। परन्तु उसको यहाँ अनंग शब्द से कह ही दिया है। अतः यहाँ शरीर से सूक्ष्म शरीर को कह रहे हैं। मन, बुद्धि व प्राण--ये कार्य करके शीर्ण हो जाते हैं। हिन्दी में भी कोई चीज़ पुरानी हो जाती है तो कहते हैं यह पुस्तक जीर्ण-शीर्ण हो गई। जीर्ण हो गई--पुरानी हो गयी, जराग्रस्त हो गयी। शीर्ण हो गई--बिखरने लायक हो गयी, इसके हिस्से इधर-उधर ढीले-ढाले हो गये।

परमात्मा के अन्दर ये तीनों शक्तियाँ नहीं हैं। ज्ञान शक्ति, इच्छा शक्ति, क्रिया शक्ति। क्यों नहीं हैं ? यह समझ लेना : ऐसा मत समझ लेना कि परमात्मा जड है इसलिये ज्ञान शक्ति, इच्छा शक्ति, क्रिया शक्ति नहीं हैं। ज्ञान शक्ति क्या करती है ? किसी चीज को तुम नहीं जानते तो ज्ञान शक्ति के द्वारा उसको तुम जानते हो। अर्थात् किसी चीज के ऊपर अज्ञान का पर्दा पड़ा हुआ है, उस अज्ञान के पर्दे को तुम खोलते हो। अंतःकरण जब घटाकार वृत्ति बनाता है तब घट के ऊपर पड़ा हुआ अज्ञान का आवरण नष्ट होता है; बाकि वहाँ तो ज्ञानस्वरूपता पहले से ही है। जब तुम्हारी ज्ञान शक्ति काम करती है तब जो चीज का अज्ञान है उसको नष्ट करती है। परमेश्वर को किसी चीज का कभी भी क्षणमात्र को भी अज्ञान होता नहीं है। अतः ज्ञान शक्ति का उसके लिये प्रयोजन ही नहीं है। ज्ञान शक्ति की जरूरत कब पड़े ? जब पहले तुमने न जाना हो और फिर जान गये। परमात्मा तो हमेशा जो कुछ है उस सब को जानने वाला है इसलिये उसके लिये ज्ञान शक्ति नहीं है। इच्छा का मतलब हुआ 'जो चीज जैसी नहीं है वह उस प्रकार की हो' यह मन की भावना। संसार में पीपल के पत्ते के ऊपर का जो छोटा सा पतला हिस्सा है वह भी परमात्मा की इच्छा के बिना हिल सकता नहीं। अर्थात् कुछ भी ऐसा नहीं है जो वह चाहे कि 'ऐसा न होकर वैसा होवे।' यह संभव ही नहीं, क्योंकि उसके संकल्प से विरुद्ध कुछ भी हो सके यह संभव नहीं है। जो चीज जैसी है उसको जानने की उसको जरूरत नहीं है क्योंकि हमेशा ही वह जानता है तथा किसी भी चीज में परिवर्तन करने की भावना उसमें हो नहीं सकती क्योंकि कोई चीज ऐसी है ही नहीं जो परिवर्तन के योग्य वह समझे और वह परिवर्तित न होवे।

इसी प्रकार जब इच्छा ही नहीं तो क्रिया कैसे होवे ? परमात्मा में ये तीनों ही अनावश्यक हैं। उसका संकल्प ही उसकी क्रिया कह दी जाती है। इसलिये अन्यत्र शास्त्रों में कहा है--उसकी आँख खुलना ही सृष्टि का निर्माण हो जाना है। उसकी आँख का बंद हो जाना ही महाप्रलय हो जाना है।

जब हम लोग कहते हैं कि परमेश्वर इस सारी सृष्टि को, ब्रह्माण्ड को, बनाता है तो कई लोग प्रश्न करते हैं, 'महाराज ! इतना बड़ा प्रश्रिश्रम उसने किया क्यों ?' अथवा 'उसको बनाना ही था तो छोटी-मोटी कोई चीज बना कर काम चल जाता। यह अनंतकोटि ब्रह्माण्ड बनाने की क्या जरूरत थी ? छोटे से छोटे अमीबा के कीड़े को भी बनाया, बड़े से बड़े हाथी को भी बनाया--इतनी चीजें बनाने की क्या जरूरत थी ? थोड़ी बहुत, दस-पाँच चीजें बना लेता।' लेकिन यह जो हमें अनंत विस्तार वाला संसार लग रहा है इसे बनाने में परमेश्वर को कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ता। उसकी आँख खुलते ही यह सारी सृष्टि उत्पन्न हो जाती है। आँख खुलना हमारे लिये कोई प्रयास की बात नहीं है। ऐसा तो नहीं है कि हमने बड़ी भारी चेष्टा की। कोई छोटा प्राणी होगा--अमीबा, उसको लगेगा कि करीब-करीब १.५ सेंटीमीटर लंबी, करीब ०.५ सेंटीमीटर चौड़ी, कम से कम १ मिलीमीटर मोटी, इतनी बड़ी पलक को उन्होंने कितना जोर लगाकर खोला होगा ! यदि उसको यह पलक खोलनी होवे तो लाखों अमीबा जब इकट्ठे होवें और एक तरफ जोर लगावें तब हो सकता है। अतः उसे तो लगेगा कि यह तुम्हारी जो आँख खुलती है यह बड़ा प्रयास-साध्य कार्य है, बड़ा भारी काम है। परन्तु क्या तुमको ऐसा लगता है ? तुम्हारे लिये यह बिल्कुल सहज और स्वाभाविक है। इसी प्रकार परमेश्वर इस अनंत कोटि ब्रह्माण्ड को उतनी ही सरलता से प्रकट कर देता है जितनी सरलता से हम अपनी आँख खोल देते हैं। अतः वह अनंग भी है और अशरीर भी है, सूक्ष्म शरीर भी उसका नहीं है।

उसका समग्र कार्य करने वाला फिर कौन है ? वह उसकी माया शक्ति है। उसका कार्य जिस शक्ति से होता है वह हमारी ज्ञान इच्छा क्रिया वाली शक्ति नहीं है। उसकी तो माया शक्ति है। इसीलिये उसका कोई आयास नहीं होता।

उससे उस परमात्मा का पता कैसे लगे ? कहा **'अशब्दः'**। वह शब्द का विषय न होते हुये भी शब्द से ज्ञेय है। भगवान् भाष्यकार लिखते हैं--**'नास्य शब्दगुणः संभवति। शब्दविद्धि सन्।'** वह शब्द के द्वारा जाना जाता है, फिर भी उसमें शब्द गुण नहीं है। जैसे हमें बतलाना हो कि द्वितीया का चन्द्रमा उग गया। द्वितीया का चन्द्रमा देखने से अगले पन्द्रह दिन बड़े

अच्छे बीत जाते हैं। इसलिये पुराने लोग द्वितीया के चन्द्रमा का दर्शन करते हैं। अब दिल्ली जैसे शहर में तो बड़ा ही दुर्लभ है; सूर्य का दर्शन ही मुश्किल है फिर दूज का चन्द्रमा कहाँ दीखेगा ! दूज का चन्द्रमा दीखता नहीं इसलिये रोज नई बातें सुनने को मिलती हैं वहाँ बम फट गया, वहाँ बस उलट गई, वहाँ बस भिड़ गई। भगवान् शंकर के सिर पर जो द्वितीया के चन्द्रमा रहते हैं वह अपने को छिपा कर ही रखते हैं नहीं तो लोग कहेंगे कि 'ये सब घटनायें हो गईं, हमने तो दूज का चन्द्रमा देखा था !' इसलिये वह अब अपने को छिपाकर ही रखते हैं। किंतु कहीं दूर देहात में दीख गया, दूसरे को दिखाना है। दिखाओ कैसे ? होता तो बहुत छोटा है। पूर्व की तरफ तो तुमने अंगुली से इशारा कर दिया। दिखाने के लिये तुम कहते हो 'सामने यह जो धव का पेड़ है, इस धव के पेड़ की जो दो बड़ी शाखायें दीख रही हैं उनके बीच में से देखो।' अब विचार करके देखो : चन्द्रमा क्या दो डालियों के बीच में आ सकता है ? चन्द्रमा हजारों मील लंबा-चौड़ा है। दो डालियाँ आधे बित्ते की हैं। वो परिमाण से नहीं आ सकता। दूरी से भी नहीं आ सकता। वह यहाँ से लाखों मील दूर है और धव का पेड़ तुम्हारे ही बगीचे में लगा हुआ है। न तुम दूरी से उसको बतला रहे हो, न परिमाण से बतला रहे हो। फिर भी उन दोनों के बीच आँख जमाने से सामने वाले को चन्द्रमा दीख जाता है। कैसे दीख जाता है ? यह नहीं कह सकते। उसमें कोई शंका-समाधान करे कि किस तरह से दीखा ? दीखा तो तुमको अपनी आँख से; बाकि न तुमको डालियों से दीखा न डालियों के बीच की जगह से दीखा। हमने जो बात कही थी वह सारी की सारी ग़लत थी। परन्तु फल यह जरूर हो गया कि तुमको दीख गया। और नहीं तो तुम इधर उधर चक्कर मारते रहते।

इसी प्रकार शब्द के द्वारा कैसे उसको बताया जाये ? शब्द तो उसी चीज को कहता है जिसकी जाति होवे, जिसमें गुण होवे, क्रिया होवे, संबंध होवे। शब्द अगर किसी चीज को बतलाता है तो इन चार के माध्यम से बतलाता है। हमने तुमसे कहा, 'देवदत्त आने वाला है। वह ब्राह्मण है।' तो तुम्हें देवदत्त के बारे में कुछ पता लग गया कि वे ब्राह्मण हैं। जाति से पता लगा। हमने तुम्हें कह दिया कि देवदत्त जो आने वाले हैं वे भोजन बनाने में बड़े कुशल हैं। तो तुम्हें पता लग गया कि वह रसोईया

है। कार्य से पता लग गया, क्रिया से पता लग गया। हमने तुमसे कहा कि देवदत्त बहुत अच्छी संस्कृत बोलते हैं। तुम्हें गुण का पता लग गया—संस्कृतज्ञ हैं। या गोरे हैं—गुण का पता लग गया। संबंध—तुम यज्ञदत्त को जानते हो। हमने तुमसे कह दिया देवदत्त यज्ञदत्त के बेटे हैं। तो तुम्हें पता लग गया उसके बारे में। देवदत्त के बारे में यदि कुछ बताना है और तुम देवदत्त को नहीं जानते हो तो केवल जाति, गुण, क्रिया, संबंध—इनसे ही पता लगेगा और कोई पाँचवीं चीज है नहीं। शब्द से इन चार चीजों द्वारा पता लगता है जिस चीज को हम नहीं जानते उसका। अब परमात्मा की जाति नहीं—कम से कम दो चीजें होवें तब उनकी जाति होवे। परमात्मा अकेला है। यदि उसकी जाति का कोई दूसरा पदार्थ होता तब हम वह तुम्हें दिखला देते तो तुमको पता लगता कि वह हमारी देखी हुई उस चीज की जाति का है। परमात्मा की कोई जाति नहीं।

जब भगवान् शंकर का विवाह हो रहा था तो गोत्राचार के समय ब्रह्मा जी ने पूछा, 'विवाह होने जा रहा है, गोत्राचार करना है, तो तुम्हारा पिता कौन है ?' भगवान् ने कहा, 'सारी दुनिया के पिता, आप ब्रह्मा।' ब्रह्माजी ने कहा, 'अच्छा ठीक है। अब दादा का नाम बताओ।' तो बोले, 'तुम विष्णु से पैदा हुये। विष्णु को दादा समझ लो। शादी तो करनी ही है।' अब उन्होंने कहा कि, 'पड़दादा कौन है ?' तो शंकर जी बोले, 'वह तो हम ही हैं सबके !' बाप दादा तो बता दिये, पड़दादा किसे बतावें ? तो जिसके गोत्र का ही पता नहीं लग सकता, पड़दादा का ही पता नहीं लग सकता, उसकी जाति का पता कहाँ से लगे ? कोई ऐसी अनुगत चीज नहीं जिसको देखकर पता लगे कि परमात्मा है क्या।

वह सारे गुणों से रहित है इसलिये परमात्मा के बारे में कोई गुण नहीं कहा जा सकता। अतः उसे निर्गुण ही कहते हैं। आगे कह दिया है **'अस्पर्शः'**। दूसरा गुण भी गिना दिया है। भगवान् भाष्यकार ने स्पष्ट किया है कि सबसे सूक्ष्म गुण हैं आकाश और वायु के। महाभूतों में सबसे सूक्ष्म आकाश और वायु हैं। आकाश का गुण शब्द है और वायु का गुण स्पर्श है। जब आकाश-वायु के गुण ही उसमें नहीं हैं तो दूसरे गुण तो होने ही कहाँ से हैं ? अतः परमात्मा का कोई गुण नहीं जिसको देखकर पता लग जाये किस गुण वाला वह है।

परमात्मा की कोई क्रिया नहीं जिसके द्वारा पता लग जाये कि इस क्रिया वाला है। परमात्मा सृष्टि-स्थित करने वाला है, इसको क्रिया मान लीजिये ? तो देखो; क्रिया हमेशा होती है किसी दूसरे के साथ। तुम मिट्टी लो। उसके साथ कुछ करो, दण्डा इत्यादि होवे, तब न क्रिया करोगे। इसलिये पुष्पदन्ताचार्य लिखते हैं—

'किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनम्
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च।'

ये सारी चीजें होवें तब किसी क्रियावान् का ज्ञान होवे। हमने जितने क्रियावान् देखे हैं वे किसी न किसी प्रयोजन से करते हैं : कुम्हार घड़ा बनाता है तो किसी ग्राहक के लिये बनाता है, पैसा कमाने के लिये बनाता है, किसी न किसी प्रयोजन से बनाता है। 'किंकायः'— कोई न कोई शरीर उसका है जिससे बनाता है। किसी न किसी उपाय से, चक्का इत्यादि चलाकर बनाता है। कहीं न कहीं बैठकर बनाता है। कोई मिट्टी इत्यादि उपादान कारण, कोई material cause लेकर तब बनाता है। इसके बिना क्या हमने किसी को कोई क्रिया करते देखा है ?

परमेश्वर के अन्दर यह सब नहीं है। अतः उसकी क्रिया तो 'अतर्क्यैश्वर्ये' तर्कना करके यदि हम समझना चाहें, उसको सृष्टि-स्थिति-लय करने वाला समझना चाहें, तो हम नहीं समझ सकते। इसलिये सृष्टि-स्थिति-लय की क्रिया भी केवल हम सामान्य दृष्टि से समझने के लिये कह देते हैं। परमात्मा उससे भी क्रिया वाला बनता नहीं। अतः न उसमें क्रिया, न उसमें गुण, न उसमें जाति।

संबंध भी उसका कब होवे ? दो होवें तो संबंध होवे। दूसरा कोई है नहीं जिसके साथ उसका संबंध होवे। अतः शब्द से उसका ज्ञान होना संभव नहीं लगता।

शब्द से जिसका ज्ञान कराते हैं वह तो परमात्मा नहीं होगा परन्तु उन शब्दों के बीच में देखने से ज्ञान हो जाता है। तत्पदार्थ रूप से तो हम माया शक्ति वाले चेतन का ज्ञान कराते हैं। त्वम्पदार्थ रूप से हम अंतःकरणादि विशिष्ट चेतन को बतलाते हैं। दोनों में से कोई चेतन नहीं है। दोनों किसी न किसी उपाधि वाले चेतन हैं। न वह उन उपाधियों के

बीच में है, न उन दो उपाधियों के परिमाण वाला है। उन दो उपाधियों से उसका कोई संबंध तो समझ नहीं आता परन्तु इन दो उपाधियों के अन्दर जब विचार करते हैं तब तुमको अखण्ड ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है, लक्ष्यार्थ का ज्ञान हो जाता है। इसलिये शब्द के द्वारा किसी तरह जाना तो जाता है फिर भी शब्द के द्वारा वैसे जाना नहीं जाता जैसे संसार के पदार्थ जाने जाते हैं।

इसीलिये कहते हैं परमात्मा का जो ज्ञान है उसके लिये तुमको अत्यधिक आंतरिक सद्भाव की अपेक्षा होती है। सामवेद के केनोपनिषद् के अन्दर इसी बात को बतलाया—देवता लोग जीत कर आ गये। देवताओं को घमण्ड हो गया कि हमारी कैसी महिमा है कि हमने बड़े-बड़े राक्षसों को खत्म कर दिया ! परमेश्वर ने विचार किया कि देवताओं की मदद तो इसलिये की गई है कि ये देवता हैं। असुरों को इसीलिये हराया जाता है क्योंकि वे असुर हैं। इस प्रकार अपनी ही महिमा को समझना—बस यही तो असुर का लक्षण है। असु का अर्थ है प्राण। गीता में रोज बाँचते हो—'गतासून् अगतासूंश्च' गतासु जिनके प्राण चले गये, अगतासु जिनके प्राण नहीं गये। तो जो असु में रमण करे अर्थात् 'मैं ही बड़ा बलवान हूँ, मेरी ही प्राणशक्ति प्रबल है, मैं ही सब कुछ कर सकता हूँ', इस प्रकार जो प्राणों में, क्रियाओं में अपने ही कर्तृत्व का घमण्ड रखे उसी को असुर कहा जाता है। अब अगर देवता भी यह सोचने लगेंगे कि यह सब हमारी महिमा है तो देवता भी असुर कोटि में ही आ जायेंगे ! फिर इनको जिताना बेकार है। परमेश्वर का उन पर अनुग्रह था। अतः वे एक विचित्र-सा रूप लेकर, यक्षस्वरूप लेकर—जो देवताओं की समझ में न आवे—जहाँ देवता लोग बड़ा भारी पंडाल बनाकर खूब जोर से उत्सव मना रहे थे वहाँ पास की चट्टान पर बैठ गये। अब देवताओं की नजर पड़ी तो उन्होंने सोचा कि यह कौन है ? अकस्मात् देखकर, स्वाभाविक है, डर भी लगा। कोई राक्षस तो नहीं है जो बच गया और यहाँ आकर बैठ गया ? पता लगाना चाहिये कौन है ? अग्नि से कहा तुम जाकर पता लगाओ क्योंकि सब कामों में सबसे पहले दीपक जलाते हैं। अग्नि की साक्षी में फिर सारे कार्य किये जाते हैं। अग्नि गया पता लगाने के लिये कि यह कौन है।

यक्ष के पास पहुँचा पूछने के लिये कि वह कौन है। अपने से प्रबल तेजस्वी के सामने जब मनुष्य जाता है तो उसकी सारी बोलती बंद हो जाती है। वहाँ जाकर चुपचाप खड़ा रहा और पूछ भी नहीं पाया। तब यक्ष ने ही उससे पूछा, 'अरे, कौन है ?' तब उसने कहा, 'मैं अग्नि हूँ।' साथ में अपना पद भी बतला दिया, 'मैं जातवेदा हूँ। संसार में जो होता है सब मुझे पता है।' यक्ष को हँसी आनी ही थी कि जातवेदा है और मुझे जान नहीं रहा है !

एक बार यहाँ आधुनिक जमाने के एक सज्जन आये थे। बातचीत के दौरान उन्होंने कहा कि उन्होंने अर्थशास्त्र में 'पीएच.डी.' की है। हमने कहा, 'यह 'पीएच.' क्या होता है ?' तो वे बोले, 'फिलासफी' हमने कहा, 'फिलासफी का क्या मतलब होता है ? तुमने तो अर्थशास्त्र पढ़ाया है और तुम कह रहे हो कि मैं दर्शन शास्त्र का विद्वान् हूँ। तो तुमने अर्थशास्त्र के अन्दर कौन सा दर्शनशास्त्र पढ़ा ?' कहने लगे, 'जी, यह तो ऐसे ही सरकार ने डिग्री दे रखी है।' हमने कहा, 'विश्वविद्यालय ने डिग्री का नाम ऐसे ही नहीं रखा है। Philosophy शब्द का अर्थ क्या होता है ? फिलास—कहते हैं प्रेम को और सोफिया कहते हैं ज्ञान को। ज्ञान से प्रेम—यह फिलासफी का मतलब है। तो अर्थशास्त्र के ज्ञान के प्रति तुम्हारे अन्दर यदि प्रेम उत्पन्न हुआ तो तुम पीएच. डी. हुये और यदि तुम्हारे में इतना भी ज्ञान का प्रेम नहीं है कि कम से कम अपनी उपाधि का अर्थ तो जानो, तो काहे के पीएच. डी. हुए ?' लोग पदवी धारण करके घूम लेते हैं परन्तु वह पदवी है क्या इसकी तरफ विचार करते नहीं।

ऐसे ही अग्नि ने खट से अपनी पदवी तो बोल दी—जातवेदा। यक्षस्वरूप भगवान् शंकर ने सोचा कि इसने अपना गुण तो बतला दिया, अब इसके कर्म की जिज्ञासा की जाये। बोले, 'कुछ कर्तब भी जानता है ? धंधा भी कुछ करता है कि नहीं ?' अग्नि बोले 'संसार में सब कुछ जला सकता हूँ।' भगवान् शंकर चट्टान पर बैठे हुये थे। वहीं से एक तिनका तोड़कर रख दिया। कहा, 'इसको जरा जला दे।' सारे संसार को जलाने की शक्ति रखने वाला अग्नि सारा जोर लगाकर थक गया लेकिन उस तिनके को नहीं जला सका। बिल्कुल शर्मा गया। आगे कोई बात न होवे इसलिये वहाँ से लौट गया। आकर यह नहीं बताया कि उसकी वहाँ क्या भद हुई, बस यही कहा, 'मुझे पता नहीं लगा' और चुपचाप बैठ गया।

तब सबने वायु देवता से जाकर पता लगाने को कहा। अग्नि के बाद वायु की प्रधानता है। वायु गये। वह भी वहाँ कुछ नहीं पूछ सके। पूछने पर उन्होंने भी सब पदवी वगैरह बतलायी। यक्ष ने उससे भी कहा, 'यह तिनका पड़ा है। इसे उड़ा दे।' वायु ने कहा था 'मैं सबको उड़ा देता हूँ।' सारा जोर लगाकर जब तिनका तक उड़ा नहीं पाया तब वह भी वापिस आ गया। अग्नि ने आँख उठाकर देखा कि वायु का क्या हाल चाल है तो समझ गये कि उनका भी वही हाल हुआ। वायु ने भी यही कहा कि 'मुझे पता नहीं लगा।'

अग्नि व वायु को जब पता नहीं लगा तब इनसे प्रबल तो इन्द्र ही है, इन्द्र स्वयं वहाँ गया। भगवान् यक्षस्वरूप धारण किये हुये शंकर ने विचार किया यह सबसे ज्यादा घमण्डी है। इसे बात करने का भी मौका मत दो। वे वहाँ से अन्तर्धान हो गये। परन्तु अग्नि-वायु की तरह इन्द्र वापिस नहीं आया। उसके अन्दर इस बात की जिज्ञासा थी कि यह कौन है ? निश्चय था कि पता लगाना है। इसलिये हृदय में श्रद्धापूर्वक वहीं पर चित्त को एकाग्र करके खड़ा रहा कि 'परमात्मा का यह कौन सा स्वरूप हमारे सामने प्रकट हुआ था, यह समझना अवश्य है।' जब श्रद्धापूर्वक खड़ा हुआ तब भगवती उमा वहाँ प्रकट हुई। तब इन्द्र ने पूछा, 'यह कौन थे ?' वे बोलीं, 'यह हमारे पति भगवान् शंकर थे जो तुम लोगों को यह समझाने आये थे कि जीत तुम्हारी नहीं है, जीत तो परमेश्वर की है। इस बात को तुम लोग भूलकर अपनी ही जीत मान रहे थे, अपनी ही महिमा समझ रहे थे।'

अपने यहाँ पुराने जमाने में जब जन्मदिन होता था तो 'मेरा साल सुख से बीता' इसके लिये मार्कण्डेयादि के पूजन होते थे, चिरंजीवियों के पूजन होते थे और भगवान् से प्रार्थना की जाती 'जैसा यह वर्ष आनन्द से बीता वैसा वर्ष फिर आनन्द से आपकी कृपा से बीते।' अब लोग कहते हैं—मेरा जन्मदिन है इसमें भगवान् ने क्या किया ? मैं खूब मेहनत करके सालभर जिया और आगे खूब मेहनत करके साल भर जिऊँगा तो इसमें भगवान् का क्या लेना देना ? मदद करने वाले तो दोस्त लोग हैं। इसलिये पार्टी करनी चाहिये। पहले कोई बड़ा व्यक्ति होता था ५०० ब्राह्मणों को भोजन कराता था क्योंकि वे वेद का पाठ करते रहते हैं इसलिये उनका आशीर्वाद लेना चाहिये। गरीब होता था तो अपनी सामर्थ्य के अनुसार १००, ५०, १० को भोजन कराता था। कराते तो अब भी अपनी सामर्थ्य के अनुसार हैं लेकिन वैदिक ब्राह्मणों को नहीं खिलावेंगे, पार्टी करेंगे। उस पार्टी के अन्दर २-३ लाख रुपये खर्च करते हैं। कोई 'थीम' नाम की चीज होती है; सब लोग खरगोश बनकर आओ ! बेवकूफी के काम हैं। किसकी महिमा से हमारा जीवन सुखी हुआ, उसकी तरफ दृष्टि नहीं है। अपनी ही महिमा है। यह आसुर भाव मन में स्थिर हो गया है।

इस प्रकार जब आंतरिक सद्भाव के कारण इन्द्र ने परमात्मा के रूप को जान लिया तब उसने यह बात आकर सारे देवताओं को बतलाई कि 'ये तो साक्षात् भगवान् शंकर थे। और भगवती उमा ने मुझे यह बात बतलाई।'

परमात्मा का जो ज्ञान है वह तभी होता है जब हम तत् और त्वम् पदार्थ को सुनकर श्रद्धापूर्वक इन्द्र की तरह खड़े रहें। दो डालों के बीच में देखने से चन्द्रमा दीखता है—जो इस प्रकार की श्रद्धा से रहित होगा, वह चाहे जितनी युक्ति, तर्क करके खण्डन कर लेवे लेकिन उसको चन्द्रमा नहीं दीखने लगा। वह युक्तियाँ दे सकता है कि दो डालों के बीच चन्द्रमा आ नहीं सकता, चन्द्रमा पेड़ के पास हो नहीं सकता इत्यादि; वे सब ठीक हैं। वह गलत नहीं कह रहा। बस यही है, उसको चन्द्रमा नहीं दीखेगा। श्रद्धापूर्वक समझो कि ये ही वे पदार्थ हैं जिनके बीच में मुझे देखना है—तत् और त्वम्। इन पदार्थों का ही शोधन करके हमें विचार से देखना है। यदि इस प्रकार श्रद्धापूर्वक देखेगा तो परमात्मदर्शन करके मुक्त हो जायेगा।

प्रवचन-८

परमात्मा के स्वरूप का विवेचन करते हुये बता रहे हैं कि वह नित्य, अमृत, ध्रुव, अनंग, अशब्द, अशरीर, अस्पर्श, महान् है। और कैसा है ? तो कहा **'शुचिः'** पवित्र है। विष्णुसहस्रनाम के प्रारंभ में ही आता है 'पवित्राणां पवित्रं यो मंगलानां च मंगलम्'; पवित्रों को भी परमात्मा ही पवित्र करता है। परमात्मा से अतिरिक्त जितना भी किसी चीज को पवित्र करने की कोशिश करो वह तुरंत अपवित्रता बटोर लेंगी। विचार करो; माता-पिता के चरणों का स्पर्श करने से पवित्रता होती है। परन्तु वे ही माता-पिता जब मर जाते हैं तब उनके चरणों का स्पर्श करने के बाद स्नान करना पड़ता है। तो इसका मतलब अब पवित्र नहीं हैं। माता-पिता के शरीर में पवित्रता देने वाली चीज परमात्मतत्त्व है। जब तक उसमें चेतन है तब तक तो पवित्र है, परन्तु जब चेतन चला गया तब उसकी पवित्र करने की शक्ति चली गयी। भगवान् के दिव्य विग्रह की, मूर्ति की पूजा करते हैं—उससे पवित्रता होती है। विष्णु की मूर्ति हो, दुर्गा की मूर्ति हो—उसकी जाकर पूजा करते हैं तो हम पवित्र होते हैं। परन्तु यदि वह मूर्ति खण्डित हो जाती है, यदि वह मूर्ति ठीक विधि विधान से प्रतिष्ठित नहीं होती, अस्पृश्यों के द्वारा उसका स्पर्श हो जाता है, तब वही मूर्ति पवित्र करने की सामर्थ्य नहीं रखती। उलटा इस प्रकार खण्डित मूर्ति का पूजन करने से दोष बताये हैं। मूर्ति तो है ही, क्या हो गया ? उसके अन्दर जो प्राण की प्रतिष्ठा की गयी थी वह प्राण की प्रतिष्ठा चली गई। सभी पवित्र चीजों में पवित्र करने वाली सामर्थ्य परमात्मा है।

जो सबको पवित्र करने की सामर्थ्य देता है उसकी पवित्रता के विषय में कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। जैसे चीनी डालने से हरेक चीज मीठी हो जाती है। आगे कोई पूछे 'चीनी में किस चीज से मिठास आयी ?' तो क्या जवाब दोगे ? चीनी स्वतः मीठी है। चीनी के संबंध से बाकी चीजें मीठी होती हैं। इसलिये वह स्वतः मीठी है। उसे अन्य किसी मिठास की जरूरत नहीं। इसी प्रकार परमेश्वर के संबंध से बाकी सब चीजें पवित्र होती हैं तो परमेश्वर की पवित्रता सहज है; कहीं से आने वाली नहीं, स्वतः है। जब किसी भी चीज को देखो या उससे कोई व्यवहार करो तब

सच्चिदानंद परमात्मा की दृष्टि से करो। नाम रूप जहाँ कहीं है चाहे माता-पिता का, चाहे देवता की मूर्ति का, चाहे गंगा का, वहाँ पवित्रता आई उस नाम रूप से नहीं वरन् सच्चिदानंद के संबंध से। हम जिस किसी भी नाम रूप के अन्दर सच्चिदानंद की दृष्टि करते हैं वह अपने आप पवित्र हो जाता है क्योंकि स्वभाव से तो वह सच्चिदानंद है ही। हमारी दृष्टि से उसमें सच्चिदानंदता है ऐसा नहीं लेकिन जबतक हम उस ओर दृष्टि न करें तब तक हमारे लिये वह चीज पवित्र भी नहीं होगी। इसलिये विद्यारण्य स्वामी ने दृष्टांत दिया है : कोई आदमी बीमार है, मरने वाला है। उसके मुख में गंगा जल डालते हैं। घर में एक कलश में जल रखा हुआ है। पहले का रखा हुआ है। है वह गोदावरी का जल पर वहाँ लोगों को पता है कि यह गंगाजल है। वही उसको पिला देते हैं। यद्यपि उसने गंगाजल नहीं लिया, गोदावरी का जल लिया तथापि गोदावरी का जल भी मनुष्य को पवित्र करने वाला कहा गया है इसलिये भ्रम से लेने पर भी गोदावरी के जल ने पवित्रता तो ला ही दी। ठीक इसी प्रकार जिस नाम रूप के अन्दर हम सच्चिदानंद परमात्मा को देख रहे हैं वह हमें इसीलिये पवित्र कर देता है कि उसमें वस्तुतः सच्चिदानंद-स्वरूपता है ही जो पवित्र है, पवित्र करने वाली है। अतः तामस और राजस चीजों के अन्दर भी हमारी परमात्म-दृष्टि होने से हमारे लिये वे भी पवित्र ही हो जायेंगी।

इसलिये शास्त्रकारों ने कहा—परमात्मा का चिंतन कामना से करो, क्रोध से करो, द्वेष से करो, भय से करो, वह तो पवित्र करेगा ही। इन भावों से चिंतन करने वालों के अनेक दृष्टांत आप लोग जानते ही हैं। गोपियों ने कामना से किया, कंस ने क्रोध से किया, द्वेष से शिशुपाल ने किया। भिन्न-भिन्न लोगों ने भिन्न-भिन्न दृष्टियों से किया परन्तु हर हालत में जिसका चिंतन किया वह परमात्मा मिल गया। तो किसी भी दृष्टि से किया—चाहे सात्त्विकी वृत्ति, राजसी वृत्ति अथवा तामसी वृत्ति से किया, परन्तु विषय तो परमात्मा था न। अथवा दूसरा दृष्टांत समझ लो : कहीं पर कोई आदमी पत्थर तोड़ रहा है। वहाँ कोई पारस का पत्थर भी है। उसने उसके ऊपर हथौड़ा मारा तो पत्थर टूट गया। परन्तु हथौड़े के लोहे का क्या हुआ ? वह तो सोना हो जायेगा। उसने तो उसे स्पर्शमणि नहीं समझा था। उसने चाहे तोड़ने के लिये मारा पर वह था पारस पत्थर इसलिये

वह तो अपना काम करेगा ही।

एक बार एक राजा आम के बगीचे में बैठा हुआ था। उसका अपना आम का बगीचा था। अकस्मात् एक पत्थर आया और बड़ी जोर से उसके सिर पर लगा तो खून निकल आया। तुरंत चौकीदार भागे तो देखा कोई बच्चा था उसने आम तोड़ने के लिये पत्थर मारा था। तुरंत पकड़कर लाये। राजा से कहा, 'यह अपराधी है। इसने आपको पत्थर मारा।' राजा ने उससे सारी बात पूछी कि उसने पत्थर क्यों मारा ? बेचारा रोने लगा और कहने लगा, 'जी मैंने आपको पत्थर नहीं मारा। मुझे तो आम देखकर मन में आया कि तोड़कर खा लूँ। इसलिये पत्थर मारा था। यह पता नहीं था कि आप अन्दर बैठे हैं।' राजा ने अपने साथ वालों से पूछा, 'इसे क्या दण्ड दिया जाये ?' जितने लोग थे सबकी अपनी अपनी राय थी। राजा ने कहा, 'एक बात बतलाओ। यदि यह पत्थर पेड़ की टहनी पर लगता तो क्या होता ?' सबने कहा, 'इसको आम मिल जाता।' तो राजा बोले, 'पेड़ पत्थर खाकर फल दे देता है तो क्या मैं पेड़ से भी गया बीता हूँ कि इसका पत्थर खाकर अच्छा फल न दूँ ? चलो इसको टोकरी भर आम दे दो।'

ठीक इसी प्रकार काम, क्रोध, द्वेष इत्यादि से जब परमेश्वर को विषय करते हैं तब फल होता है। ऐसा नहीं कि उस समय समझते हुए परमेश्वर की बात कह रहे हो, परन्तु विषय तुम किस को कर रहे हो ? परमात्मा को ही कर रहे हो। वह तो फल देगा ही। इसलिये उसे शुचि बताया। भगवान् ने गीता में बताया इस दृष्टि से व्यवहार करो

'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।।'

जो भी चीज तुम कभी अर्पण करते हो उसके बारे में यह दृष्टि रखो कि उसके अन्दर सच्चिदानंद परमात्मा ही है। अर्पण रूप जो क्रिया, तुम्हारे मन का जो भाव है वह भी तो परमात्मा को विषय करने वाला है। जिसको तुम दे रहे हो, वह अग्नि भी तो परमात्मा ही है। और देनेवाले तुम भी कौन हो ? परमात्मा ही है। इसी प्रकार हर पूजा के अन्त में हम बुलवाते हैं—

'शिवः कर्त्ता शिवो भोक्ता शिवः सर्वमिदं जगत्।
शिवो यजति यज्ञश्च सोहमस्मि सदा शिवः।।'

'शिवःकर्त्ता'—इस कर्म को किसने किया ? क्या कोई भी कर्म करने में हम स्वतंत्र हैं ? यदि कोई भी कर्म हुआ है तो शिव ने अन्दर बैठ कर प्रवृत्त किया है तभी हुआ है। और जो इस कर्म के फल का भोग करेगा वह भी क्या बिना शिवकृपा के भोग कर सकता है ? उसीकी सामर्थ्य से क्रिया और उसी की सामर्थ्य से भोग भी होता है—'शिवः कर्त्ता, शिवो भोक्ता।' 'शिवः सर्वमिदं जगत्, इदं सर्वं जगत् शिवः'—यह जितने भी हमको सामने जागतिक पदार्थ दीख रहे हैं ये सारे के सारे शिवरूप हैं। शिव ही यज्ञ करने वाला और यज्ञ स्वयं भी शिव ही है—'शिवो यजति यज्ञश्च।' और मैं भी कोई दूसरा नहीं हूँ—'सोऽहमस्मि सदा शिवः'। इस प्रकार से यदि हर चीज के अन्दर हमारी शिवदृष्टि होती है तो फिर हमारे लिये कहीं कुछ अशिव नहीं रह जाता।

इसलिये कहा—**'महान् शुचिः'**। वा.च सब चीजों के अन्दर तो पवित्रता किसी देश-काल-कारण आदि से आती है परन्तु यह महान् पवित्र करने वाला है अर्थात् सब देश, सब काल, सब वस्तुओं में विद्यमान होकर सबको पवित्र करने वाला ही है। ब्रह्म शब्द का अर्थ ही होता है महान्, बढ़ा हुआ। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं 'ब्रह्मार्थो दुर्लभो यस्माद् द्वितीये सति वस्तुनि।' यदि कहीं एक ज़र्रा भी ऐसा हो जो ब्रह्म न हो तो ब्रह्म की पदवी खत्म हो जायेगी। ब्रह्म का अर्थ ही है सर्वव्यापक। अगर एक ज़र्रा भी ऐसा है जिसमें वह विद्यमान नहीं तो फिर यह सर्वव्यापक नहीं रहा। इसलिये जब हर ज़र्रा जो है वह परमात्मस्वरूप है तो फिर हर ज़र्रा पवित्र ही है। अपवित्रता उसमें हमारे अज्ञान से है। हम उसको परमात्मरूप नहीं समझ रहे इस अज्ञान से अपवित्रता है अन्यथा अपवित्रता कहीं हो नहीं सकती।

'स सर्वं परमाकाष्ठा।' वही अंतिम काष्ठा है, अंतिम समाप्ति है। उसके आगे और कोई काष्ठा नहीं। उससे यह उत्कृष्ट, इससे वह उत्कृष्ट, यों देखते देखते कोई प्रश्न करता है कि, 'परमेश्वर से उत्कृष्ट क्या ?' याज्ञवल्क्य से यह प्रश्न पूछ लिया था गार्गी ने। 'वह किसमें ओत-प्रोत, उससे बड़ा कौन ?' याज्ञवल्कय ने कहा, 'ऐसे प्रश्न मत पूछो। जो सबसे परम काष्ठा वाला है उसकी काष्ठा कहाँ ? उसके आगे क्या ? यह प्रश्न पूछोगी तो तेरा सिर कट कर गिर जायेगा।' जो सबकी काष्ठा है उसका

आगे अवसान और किसी में नहीं। सबका बाध करने के बाद जो बचता है उसका बाध कैसे हो ? बाध करने वाला ही तो बचा हुआ है। अतिप्रश्न इसको इसलिये कहा जा रहा है क्योंकि प्रश्न ही गलत है। सबकी निवृत्ति हो जाने पर वह अनिवृत्त है; जब सबकी निवृत्ति को कह दिया गया तो जो भी निवृत्त होने के योग्य है वह सारा का सारा हट ही चुका, उसके बाद निवृत्ति का प्रश्न ही गलत है। यदि वह निवृत्ति के योग्य होता तो 'सब'के अंतःपाती होता जब 'सब' निवृत्त हुए तब यह भी हो जाता। जैसे कोई कहे इस कमरे में पंगत बैठेगी। सारी दरियाँ उठानी हैं, बाहर चले जाओ। सब बाहर चले गये। उसके बाद कोई यह पूछे कि सब बाहर चले गये तो अब जो वहाँ बचा हुआ है वह बाहर कैसे जायेगा ? इस प्रश्न को अतिप्रश्न कहोगे क्योंकि अंदर कोई है ही नहीं जिसे बाहर आना है। इसीलिये अन्यत्र श्रुति ने भी कहा—'सा काष्ठा सा परा गतिः' वही परम गति है, वही है जिसमें सब कुछ समाप्त हो जाता है, सारी संसारगतियों का वहीं जाकर पर्यवसान है। अंत में वही बच जाता है।

शंका हो जाती है—अंत में बच जाता है तो क्या इस समय नहीं है? इसलिये कहा—**'स वैषुवतं'**—वह सबके मध्य इस समय भी विद्यमान है। सब हटने पर वह बचेगा, ऐसा नहीं है। जैसे इस कमरे में आकाश है। आकाश मायने अवकाश, खाली जगह। सब लोग बाहर चले जायेंगे तो यह खाली हो जायेगा। क्या कहीं से यहाँ आकाश आ जायेगा ? इस समय भी आकाश है ही। चीजों के कारण तुमको प्रतीत नहीं हो रहा, बस इतना ही है। 'पेटी खाली करो'—इसका मतलब यह नहीं है कि खालीपन अथवा आकाश कहीं से लाकर उसमें डालना है। चीजों के कारण वह आकाश प्रकट नहीं है। चीजों के हटने पर प्रकट हो जाता है। उसी प्रकार इस समय पदार्थ हैं इसलिये वह प्रकट नहीं है परन्तु विद्यमान तो वह परमात्मा इस समय भी है। 'स वैषुवतं'; भूगोल में आप लोगों ने पढ़ा होगा कि पृथ्वी के मध्य में जो रेखा होती है उसका नाम है विषुवत् रेखा। विषुवत् रेखा ठीक बीच में है। वैषुवत—विषुवत् में होने वाला जो वह वैषुवत। अतः मध्य में भी वही है।

क्या यह सब हटाने से उसका पता लगेगा ? आकाश का पता इन चीजों को हटाने से लगेगा ? कहते हैं—**'सः वैभाजनम् पुरम्'** यह सब

जो तुमको विभक्त दीख रहा है यह उसीकी अनन्त शक्ति को प्रकट करने के लिये है अतः इसके द्वारा वह प्रकट हो रहा है। हो तो वह प्रकट रहा है परन्तु तुम समझते हो कि यह प्रकट होने वाली चीज कुछ दूसरी है। इसलिये बृहदारण्यकोपनिषद् में बतलाया—सब लोग उसकी महिमा को तो देखते हैं परन्तु जिसकी महिमा है उसको नहीं देखते—'आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन्।' उसका यह जो फैला हुआ बगीचा है उसको तो सब देखते हैं परन्तु—'कश्चन तं न पश्यति' उसको नहीं देखते। मनुष्य सामने की चीज को देखते हुये उसकी वास्तविकता की तरफ दृष्टि ले जाता नहीं।

एक राजा था। उसके कोई संतति नहीं थी। उसने सोचा राज्य करने वाला कोई व्यक्ति ढूँढना पड़ेगा, पता लगाना चाहिये। प्राचीन काल में लोग पता लगाते थे मनुष्य की बुद्धि का, मनुष्य के चरित्र का। वर्तमान काल की तरह केवल कागजों पर लिखी हुई उपाधियों का वे कोई मूल्य नहीं देखते थे। तुम क्या हो यह पता होना चाहिये। तुम्हारी उपाधियों को लेकर क्या करेंगे ? राजा ने विचार किया कि पता लगाना चाहिये। तो सोच विचार कर उसने एक बड़ी भारी प्रदर्शनी लगायी। उसमें तरह-तरह की चीजें खेल-कूद, नाच-गान, जादू-तमाशा, खाना-पीना—ऐसे सब आकर्षणों की मुफ्त व्यवस्था कर दी। उसने वहाँ यह विज्ञप्ति पत्र भी लगा दिया कि 'आज शाम को पाँच बजे तक जो राजा से मिलेगा उसको मुँह माँगी चीज दी जायेगी।' अब मुँह माँगी चीज राजा देने को कहे तो सबने वहाँ पहुँचना ही था। परन्तु समय निर्धारित था—५ बजे। लोग पहुँचने को तो सवेरे आठ बजे से ही पहुँच गये प्रदर्शनी देखने। जैसे ही उस प्रदर्शनी के अन्दर कुछ आगे चले तो वहाँ बढ़िया से बढ़िया खाने की चीजें थीं। सब जगह साथ ही यह भी लिखा हुआ था कि राजाजी के आदेश से यह सब चीजें आप लोगों के खाने पीने के लिये हैं, इसका कोई पैसा नहीं लिया जायेगा। लोगों ने सोचा कि अभी आठ बजे हैं, और पाँच बजे तक का समय है तो खा-पी लेना चाहिये। दो-तीन घंटे उसमें निकल गये। आगे चले तो बढ़िया से बढ़िया कपड़े थे—साड़ियाँ, ड्रेसेस भी। वहाँ भी लोग लेने में लग गये क्योंकि वहाँ भी लिखा था 'राजाजी की ओर से यह मुफ्त में बख्शीश दिया जायेगा।' कुछ समय वहाँ पर निकल गया। आगे चले तो वहाँ बढ़िया-बढ़िया जवाहरात-गहने थे। आदमियों के लिये बढ़िया पेन, घड़ियाँ, चश्मे इत्यादि।

इस प्रकार से एक के बाद एक चीजें सब मिलती चल गयीं। हरेक यही सोचता रहा कि इसको लेकर पहुँच जायेंगे। पाँच बजे का समय भी हो गया। अब जब पाँच बजे के नज़दीक पहुँचने लगे तो लोगों के मन में आया कि राजाजी को तो मिले ही नहीं ! वहाँ से चले, तो लंबा रास्ता था। राजा बिल्कुल अन्दर ९-१० मील पर बैठा हुआ था। भागे-भागे गये, पर कैसे पहुँच सकते थे ? केवल एक व्यक्ति था जो आया; उसने बढ़िया से बढ़िया खाने की चीजें देखीं। उसने सोचा कि जन्मभर खाते-पीते ही आये हैं परन्तु आज जिस काम के लिये आये हैं उस काम के लिये चलें। उसने भी कपड़े जवाहरात देखे। परन्तु उसके लिये तो यह स्पष्ट था कि इन सब चीजों के लिये तो आये नहीं हैं, राजा से मिलना था। तो वह चलता चला गया और जो भी रास्ता १०-१२ मील पार करना था वह राजा के पास तीन बजे तक पहुँच गया। राजा बोला, 'अरे बड़ी जल्दी आ गया। तेरा चेहरा बड़ा सूखा-सूखा सा लग रहा है। कुछ खाया पिया नहीं रास्ते में ? कुछ खाने-पीने के लिये नहीं था ?' वह बोला, 'महाराज ! मैं कुछ खाने-पीने के लिये तो आया नहीं था।' राजा बोले, 'तूने अपने कपड़े भी नहीं बदले।' उसने जवाब दिया, 'जी आपने यह तो कहा नहीं था कि रास्ते में कपड़े बदलकर आना। मुझे तो आप से मिलना था। बस जो काम करना था उसके लिये आया हूँ।' राजा ने उसको वहाँ खिला-पिलाकर बैठाया कि देखें और कौन आता है। और तो कोई पहुँचा नहीं। राजा ने उससे कहा, 'बोलो क्या चाहिये ?' वह बोला, 'महाराज ! मेरा तो काम यही था कि आपने कहा है तो आपके दर्शन कर लूँ।' राजा ने कहा 'मैं तो अब बूढ़ा हो गया हूँ इसलिये यह राज्य तेरे को देकर जाना चाहता हूँ।' राजा ने उसको राज्य दे दिया। जो और लोग थे वे सोचने लग गये, 'हाय ! हम लोग बिना मतलब दूसरे कामों में फँस गये !'

ठीक यही हाल है हम सब जीवों का। 'आराममस्य पश्यन्ति'—परमेश्वर ने यह बड़ी भारी प्रदर्शनी लगा रखी है। पहले एक मोटर होती थी तो लोग कहते थे यह अम्बेसेडर मोटर तो बेकार है। अब दसियों तरह की मोटरें हो गयीं। प्रदर्शनी लग गयी—इस मोटर को लेवें, उसको लेवें। पहले तीन कपड़े थे—रेशम, सूत और ऊन। गर्मी के लिये सूत का, बीच के मौसम के लिये रेशम का और सर्दी के लिये ऊन का कपड़ा खरीद लो। अब उसके

अन्दर पचासों प्रकार हो गये जिनका नाम ही याद रखना मुश्किल हो जाता है। एक के बाद एक देखते रहते हैं। हमेशा ही यह सोचते रहते हैं कि पाना तो परमात्मा को ही है, बस यह और कर लें। दिखाने को परमात्मा ने क्या प्रदर्शनी लगा रखी है, यह सब जानते ही हो। यहाँ क्यों आये थे? आये तो यहाँ मनुष्य शरीर में इस उद्देश्य को लेकर कि परमात्मा का दर्शन करेंगे। और इस मनुष्य शरीर की कोई विशेषता नहीं है। न तो इसमें कोई सुंदरता—इसकी सुंदरता कितनी है ? एक मिलीमीटर—एक इंच का पच्चीसवाँ हिस्सा। बस इतनी ही तुम्हारी चमड़ी है। जब भगवान् ने मनुष्य शरीर बनाया तो वे जानते थे कि यह अपने शरीर के मोह में पड़ जायेगा इसलिये इसमें एक भी चीज ऐसी नहीं लगायी जो दीखकर तुमको अच्छी लगे। भगवान् के पास सोने-चाँदी की कोई कमी नहीं है। वह चाहता तो तुम्हारे शरीर के अन्दर जितनी रक्त की धमनियाँ हैं सब चाँदी की बना देता। स्नायुओं को सोने की बना देता। उसने वह सोना-चाँदी कहाँ रखा? जमीन के अन्दर बहुत गहराई में गाड़ कर। रखा तो जरूर, पर इतना गहराई में गाड़कर कि मनुष्य इसके प्रलोभन में न पड़े। और शरीर के अन्दर जो रक्त की धमनियाँ और स्नायु बनाये वे ऐसे बनाये कि जिनको देखकर तुम्हारे मन में कोई आकर्षण नहीं होता। तुम्हारी आँखों में मांस का जो उन्होंने लेन्स बनाया उसकी जगह बढ़िया हीरा लगा देते। कोई हीरे की भी कमी उनके पास नहीं थी। पर हीरे भी जमीन की गहराई में छिपा दिये। परमात्मा की ओर जाने के प्रयत्न से तुम विचलित जिससे हो सकते थे वह सब दबा कर नीचे रख दिया। जब शरीर तैयार हो गया, तब सुरेश्वराचार्य कहते हैं, भगवान् को जरा दया आ गई। 'इसको देखकर इसकी पिंडली खाने के लिये कुत्ते दौड़ेंगे, इसकी आँखों को नोचने के लिये कौवे आयेंगे। बेचारे का बुरा हाल होगा। दण्डी महात्मा होकर कभी ऊपर दण्डा दिखाना पड़ेगा कभी नीचे मारना पड़ेगा। कभी बगुले को भगाओ, कभी कुत्ते को भगाओ। सब दण्डी महात्मा बन जायेंगे।' लेकिन वह दण्डा भी होने से मक्खियों को कहाँ तक हटाओगे, छोटे-छोटे कीड़ों को कैसे हटाओगे ? तो दया आने पर तुम्हारी रक्षा के लिये छोटी सी झिल्ली उन्होंने तुम्हारे ऊपर चढ़ा दी ताकि जितनी भी घृणित चीजें हैं वे छिपी रहें। जिससे तुम कुत्तों और कौओं के भक्ष्य न बनो, मक्खियाँ और कीड़े आकर तुम्हें परेशान न करें। दया करके उन्होंने यह लगा दी। उतनी सी वह झिल्ली ही तुम्हारे

मोह का कारण है ! उस के नीचे कुछ ऐसा नहीं है कि जो तुम्हें अच्छा लगे परन्तु उसी के मोह में फँसे हो। जो चीजें उन्होंने गाड़कर रखी थीं उनको खोद खोद कर तुमने निकाल लीं। लोग कहते हैं, 'महाराज, प्रदूषण बहुत हो गया।' भगवान् ने तुम्हारे पेट्रोल, डीज़ल, मिट्टी तेल को कहाँ रखा था ? कौन सी गहराई में रखा था ? हजारों फुट दबाकर रखा था। तुमने खोदकर निकाला और फिर उसका प्रदूषण करके कह रहे हो, 'बड़ा प्रदूषण हो गया।' परमात्मा ने मनुष्य का शरीर बनाया कि यह यहाँ आकर 'तम् पश्यति' उस परमात्मा को देखे। बाकि आकर्षणों में न फँसे। लेकिन है तो यह प्रदर्शनी—चीजें तो सब हैं ही यहाँ। अब यह उन चीजों में फँसकर इस बात को भूल गया कि मनुष्य शरीर में और कुछ विशेषता नहीं है। मनुष्य शरीर की विशेषता यही है कि इसमें परमात्मा की प्राप्ति हो सकती है। आया था किसके लिये ? आकर भूल गया।

पहले कहते थे जितना ताजा फल चिड़िया खा लेती है उतना ताजा फल हम लोगों को नहीं मिलता। यह पुरानी बात है। मनुष्य ने बड़ी उन्नति की। फल को लेकर ठंडी अलमारियों में बंद करके, cold storage में रखकर सालभर पुराना बासी माल खिलायेंगे। पक्षी आज भी ताजा फल खा लेता है। गाय के बछड़े को आज भी ताजा दूध मिलता है भैंस के बच्चे को भी। मनुष्य ने बड़ी उन्नति की। हम एक बार कलकत्ते में थे तो हमें हमारे भोजन बनाने वाले ने कहा कि यहाँ छह महीने पुराना दूध मिलता है। हमनें कहा, 'छह महीने पुराना दूध नहीं मिल सकता।' वह बोला, 'वही है।' बहुत साल पहले की बात है। हमें विश्वास नहीं हुआ और हमने कहा, 'नहीं, नहीं। तुम्हें भ्रम हुआ है। कभी ऐसे हो सकता है? छह महीने कैसे दूध रह सकता है ? दो-तीन दिन पुराना हो सकता है।' अगले दिन वह डिब्बा ले आया। उस पर date of manufacturing और date of expiry छपा हुआ था। तो गाय के बछड़े को तो आज भी ताजा दूध मिलता है। मनुष्य ने बड़ी उन्नति की जो छह महीने पुराना दूध हम पी सकते हैं। बिल्कुल बासी सड़ा हुआ। इस प्रकार यह सारे विपरीत कार्य करने में लग गया। जो अपना उद्देश्य था उससे चूक गया और इसको यह समझता है कि हम उन्नति कर रहे हैं। विभक्ति, वैभाजन, विभजन—अलग करना; यहाँ अलग तो करना था विवेक के द्वारा आत्मा

और अनात्मा को, और परमात्मा को प्राप्त करना था। उसकी जगह हम तो और ज्यादा विभाजन में लग गये। आत्मा-अनात्मा का विवेक छोड़कर अनात्मा के ही कितने प्रकार और ज्यादा फैला सकते हैं, इसमें लग गये।

परमात्मा केवल अवसान में ही नहीं है। वैषुवत भी है, इसके बीच में भी है। जो यह विभजन है उसका उद्देश्य है तुम आत्मा-अनात्मा का विवेक करके विभाजन करो। अनात्मा के विभाजन में लगकर व्यर्थ बुद्धि के परिश्रम में न लगो। परमात्मा को जानोगे तो सारी शक्तियाँ अपने आप आ जायेंगी। परमात्मा इस विभक्ति के अन्दर भी आत्मानात्म-विवेक के द्वारा हमें अपने को प्राप्त करने को बतला रहा है।

●

प्रवचन-९

परमात्मा का स्वरूपनिरूपण किया। आगे कहते हैं--

'तं योऽनुतिष्ठेत् सर्वत्र प्राध्वं चास्य सदाचरेत्।
दुर्दर्शं निपुणं युक्तो यः पश्येत् स मोदेत विष्टपे।।८।।'

'तम्' अर्थात् जिस परमात्मा का प्रतिपादन किया गया। उसका **'यः अनुतिष्ठेत्'** जो अनुष्ठान करता है। अनुष्ठान करने का मतलब क्या होता है ? उस कार्य को करते हुये उससे विरुद्ध कार्य को न करना--यह अनुष्ठान है। जैसे मैंने आज अन्न नहीं खाने का अनुष्ठान किया। तो उस दिन अन्न न खाते हुए रहोगे तभी यह अनुष्ठान कहा जायेगा। अगर तुम अन्न का ग्रहण अन्य प्रकार से करते रहोगे तो उसको अन्न नहीं खाने का अनुष्ठान नहीं कहा जायेगा। भोजन नहीं करना है। क्या करना है ? रोज फुलका खाते हैं आज कुटू की पूड़ी खानी है। रोज उबाले हुये आलू छौंक कर खाते हैं, आज आलू को तल कर खाना है। इसको हम अन्न नहीं खाने का अनुष्ठान नहीं कहेंगे। अन्न नहीं खा रहे हो यह तो ठीक है, क्योंकि संस्कृत में अन्न का मतलब चावल होता है। चावल नहीं खाया तो अन्न नहीं खाया। परन्तु यह उसका *अनुष्ठान* नहीं है। हमको सत्य बोलने का अनुष्ठान करना है। हम कई बार लोगों को कहते हैं कि एक कायस्थ का सत्य होता है। आजकल जैसे वकील होते हैं, पुराने जमाने में कायस्थ होते थे। जब वे कोई बात तुमको गलत कहना चाहते थे तो सोच-विचार कर ऐसा वाक्य कहते जो वाक्य ठीक होगा पर तुम उसको जरूर गलत समझोगे। वे बोले तो सत्य हैं, झूठ बोले नहीं हैं, परन्तु उसको सत्य का अनुष्ठान नहीं कह सकते। इसीलिये भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर स्पष्ट कहते हैं--मैंने जो चीज जैसी सुनी वैसी ही तुम समझो इस उद्देश्य से जिस शब्द का उच्चारण किया जायेगा उसको सत्य वाक्य कहेंगे। मैंने जैसा समझा है वैसा ही तुम समझो, इस उद्देश्य से बोला जाये तब सत्य है।

एक जूता बेचने वाले होते हैं--बाटा शू एजेन्सी और बाटा शू कम्पनी। एक में एक नम्बर और दूसरी में दो नम्बर का माल बिकता है। इसमें भी झूठ है। तो शू कंपनी में उनका दो नम्बर का माल है और एजेन्सी

में उनका एक नम्बर का माल है। साधारण आदमी कंपनी और एजेन्सी में फर्क समझता नहीं। वह तो 'बाटा' देखता है और खरीद लिया। उसीमें पहले से खोट है। फिर वे दाम रखेंगे रु. ९.९५ पैसे। तुम दस रुपये दोगे तो कहेंगे कि 'हमारे पास पाँच पैसे हैं नहीं।' पाँच पैसे के लिये कौन झंझट करेगा ? छोड़कर आ ही जाओगे। वह तो दस रुपये का हो ही गया। क्योंकि दाम तो ९ रुपये कुछ पैस हैं इसलिये लगता नहीं कि दस रुपये का है। इस सब को हम कहते हैं--कायस्थों का झूठ। बात सच्ची है लेकिन जैसा कहा जा रहा है उससे विपरीत तुम समझो इस उद्देश्य से कहा जा रहा है। आजकल बहुत से लोग मोटरों के लिये इसी प्रकार से विज्ञापन निकालते हैं--तुमको शून्य रुपयों में अमुक मोटर मिल जायेगी, तुमको कुछ नहीं देना पड़ेगा। देखकर लगता है कि मुफ्त में ही मिल जायेगी ! परन्तु हर महीने जो तुमको देना पड़ेगा उसको जोड़कर देखोगे तो सवाया निकलेगा। ये सब ऐसे झूठ हैं जो मनुष्य को गलत विचार उत्पन्न कराने के लिये कहे जा रहे हैं। वे बोल तो सत्य रहे हैं लेकिन यह सत्य का *अनुष्ठान* नहीं है।

अनुष्ठान का मतलब होता है जिस कार्य को कर रहे हैं उससे भिन्न करना वहाँ न होवे। तब **'अनुतिष्ठेत्'** परमात्मा का अनुष्ठान करे--इसका मतलब क्या ? आचार्य शंकर लिखते हैं--

'तदुपाध्यनुवर्तिस्वभावदर्शनम् अविद्याख्यं हित्वा'।

जो देख रहे हैं वह तो पहले बता ही दिया है कि उपाधि के बिना दीखेगा नहीं। परमात्मा किसी न किसी नाम रूप उपाधि के साथ ही मिलेगा। उपाधि के अनुवर्तन को करने वाला जो स्वभाव; हमारा स्वभाव है हम हमेशा उपाधि को देखते हैं, उपाधि *वाले* को नहीं देखते। यह हमारा स्वभाव है। और अनादि काल से ही यह स्वभाव है। घट पट इत्यादि विषयों को हम ध्यान से देखते हैं परन्तु यह घट पट आदि विषय सचमुच में क्या हैं--यह देखने का हमारा स्वभाव नहीं है। उपाधि के अनुवर्ति स्वभाव को देखना--इसीके कारण जो सच्ची चीज है वह ढकी रहती है।

अगर तुम सोने का पासा खरीदो तो तुम उसको कसौटी पर भी कस कर लोगे, जरूरत हुई तो उसे थोड़ा सा गर्मी से पिघाल कर भी देख लोगे। सोने का पासा लोगे तो सब परीक्षण करके लोगे। परन्तु जब तुम नगीने जड़े हार को खरीदोगे तब न तुम उसको कसौटी पर कस कर देख सकते

हो न तुम उसको पिघला कर देख सकते हो। वह जैसा है वैसा ही लोगे। अतः पासा बेचने में जल्दी कोई तुमको गलत पासा नहीं देगा। परन्तु जब तुम गहना खरीदोगे तब उसके अन्दर जरूर कुछ न कुछ मिलावट कर दी जायेगी क्योंकि जितनी सुंदर डिजाइन होगी आगे उतनी छेड़छाड़ तुम करोगे नहीं। गहना जब उपाधि हो गया तब उपाधि के अनुवर्ति स्वभाव का दर्शन होने के कारण दृष्टि उस गहने पर जायेगी, सोना तुम्हारे लिये गौण हो जाता है। इसी प्रकार सारे व्यवहारों को तुम ध्यान देकर देखो। लड़की की शादी किससे करनी होती है ? लड़के से, अगर कहने वाला बुड्ढा है! जवाब उपाधि के अनुवर्ति-स्वभाव-दर्शन का है। बुड्ढे ने तो कह दिया लड़के से करेंगे। जवान होगा तो कहेगा डाक्टर, इंजीनियर होना चाहिये। उपाधि बदल गयी, उस व्यक्ति को देखेंगे नहीं। डाक्टर होगा, कभी बीमार होने पर जरा दवाई दे देगा। इंजीनियर होगा, कभी मकान बनाना होगा तो ठीक से मकान बना देगा। यह तो फायदा है। लेकिन साल में तुमको ३६५ दिन गुजारने किसके साथ हैं ? बुड्ढे ने कहा, लड़के के साथ। वह न डाक्टर, न इंजीनियर, न लखपति के साथ गुजारने हैं; वह तो उस आदमी के साथ गुजारने हैं। परन्तु उपाधि स्वभाव का अनुवर्तन करने वाला उस समय उन चीजों को देखकर विवाह कर लेगा फिर बैठकर रोता रहेगा, दुःखी होता रहेगा।

ठीक यही हाल हम लोगों का होता है। हम घट-पट आदि विषयों को देखते हैं, देवदत्त-यज्ञदत्त, गाय-भैंस को देखते हैं। लेकिन वह गाय-भैंस है कौन ? वह घट-पट आदि पदार्थ हैं कौन ? उनकी वास्तविकता क्या है? यह तभी हो सकता है जब 'अविद्याख्यं हित्वा'; यहाँ अविद्या का मतलब मूल अविद्या से नहीं है। गीता में भगवान् ने भी कहा—'अज्ञानेन आवृतं ज्ञानम्' तुम्हारा ज्ञान अज्ञान से आवृत हो जाता है। अज्ञान अर्थात् अज्ञान का कार्य यह जो नाम-रूपादि है इसके कारण सत्य आवृत हो जाता है। जैसे सूर्य को कोई बादल ढाँकता नहीं है क्योंकि बादल किसकी रोशनी से दीख रहा है ? सूर्य की रोशनी से। बादल केवल यह करता है कि तुमको सूर्य जैसा है वैसा देखने नहीं देता। बस इतना ही करता है, और कुछ नहीं। इसी प्रकार ज्ञान को अज्ञान ढाँकता है। अर्थात् वह ज्ञानस्वरूप परमात्मा जैसा है वैसा उसे नहीं देखने देता। घड़े रूप से तो देखते हो, ज्ञान है।

कपड़े रूप से, देवदत्त रूप से, गाय रूप से, भैंस रूप से तो देखते हो। किसको देख रहे हो ? इन सब रूपों में परमात्मा को देख रहे हो। अज्ञान उसे ढाँक तो सकता नहीं परन्तु परमात्मा के इन रूपों को देखते हुये तुम परमात्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं देख पाते, क्योंकि उसी में मन अटक जाता है। जैसे आँख यहाँ से चलकर बादल के ऊपर पहुँचकर अटक जाती है, सूर्य तक नहीं जा पाती इसी प्रकार नाम रूप में हम अटक जाते हैं इसलिये वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाते।

हिमालय में सक सुरथू नाम का राजा था। किरातों का देश था। वह किरातों का राजा था। बड़े नियम से राज्य करता था। प्राचीन काल में राजा राज्य में होने वाले किसी भी दोष के लिये स्वयं अपने को दोष का भागी मानता था। आप जानते ही हैं—रामचन्द्र जी के राज्य में ब्राह्मण का लड़का मर गया तो उसने रामचन्द्र जी के पास मरे पुत्र को लाकर दरबार में रख दिया। वे बोले, 'यह क्या ?' ब्राह्मण बोला, 'मैं बैठा हुआ और मेरा लड़का मर गया। मैंने तो जन्मभर पाप किया नहीं। यह लड़का मरा है तो आप के किसी पाप के कारण मरा है।' रामचन्द्र जी ने पता लगाया, फिर उस पाप को दूर किया। लड़का जीवित हो गया। वर्तमान काल में बनते तो राजा हैं, कहीं कुछ हो जाये तो कहते हैं, 'हम कैसे जिम्मेवार?' हमारी दृष्टि में ये राजा नहीं हैं।

सुरथू किरात देश का वास्तव में राजा था। किसी भी प्रकार की राज्य में कोई कठिनाई आवे तो प्रजा को कोई कठिनाई न होने देना इसकी वह निरंतर कोशिश करता रहता था। ऐसा करने में चिंता होनी ही है। काफी समय बीता। उधर से एक बार मांडव्य महर्षि गुजरे। मांडव्य महर्षि कुछ दिन वहाँ रहे। उसके व्यवहार से और प्रजा के प्रति जो उसकी दृष्टि थी उससे बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा, 'राजन्, तुम्हारा राज्य बड़ा सुंदर चल रहा है। बड़ा अच्छा है।' उसने कहा, 'महाराज, जैसे सुख-दुःख मुझे होता है वैसे ही प्रजा को होता है। इसलिये प्रजा के दुःखों को दूर कर उसे सुखी करना, यह तो मेरा फर्ज है। और वह मैं करता हूँ परन्तु इसके अन्दर मुझे जो निरंतर चिंता बनी रहती है उस चिन्ता के हटने का कोई उपाय हो तो बताइये।' महर्षि बोले 'चिन्ता कुछ जानने से हटती है। कुछ चीजें करने से हटती हैं, कुछ चीजें जानने से हटती हैं। तुम जब इस बात का चिन्तन

करोगे कि तुम्हारा वास्तविक स्वरूप क्या है—तब उस वास्तविकता के ज्ञान से यह चिन्ता हट सकती है। कुछ करने से चिन्ता नहीं हट सकती।' उसने मांडव्य महर्षि से उसका उपदेश देने का आग्रह किया। मांडव्य महर्षि ने वहाँ रह कर धीरे-धीरे उसे यह समझाया कि उसका वास्तविक स्वरूप क्या है। उसीको यहाँ पूर्व श्लोक में कह दिया। जब उसको अपने आत्मस्वरूप का पता लगा तब वह सर्वथा निश्चिन्त हो गया।

यहाँ अनुष्ठान का रूप बतलाया—'उपाधि-अनुवर्ति-स्वभाव-दर्शनम् अविद्याख्यं हित्वा' यह जो नाम रूप का दर्शन रूप अज्ञान है इसको हटाकर, छोड़कर—'विद्यया शास्त्रजनितदर्शनेन' शास्त्र के द्वारा जो मिलता है उस दर्शन से अर्थात् इसकी जो वास्तविकता है उसके दर्शन से। जहाँ शासन किया जाता है उसको शास्त्र कहते हैं। शास् और त्र जोड़कर हुआ शास्त्र। जहाँ शासन किया जाये, जहाँ कुछ बताया जाये। शासन का मतलब है दूसरे को मार्ग का दर्शन कराना, रास्ता दिखाना। जैसे आजकल राजा नहीं वैसे ही आजकल शासन नहीं। अगर तुम्हारी दृष्टि में कोई रास्ता है तब तो तुम बताओगे। जब तुम्हीं लोगों से कहते हो कि 'हमें रास्ता दिखाओ' तब मतबल हुआ तुम्हारे क्या करने से हमारा फायदा है यह तुम्हें तो पता नहीं। जिसे हमारे हित का पता ही नहीं उससे हमारा शासन तो हो नहीं सकता। शासन जहाँ किया जाये वह शास्त्र। लोग कहते हैं कि धर्मशास्त्र में परिवर्तन करना चाहिये। अर्थात् हमें पता है हमारे लिये क्या ठीक है, उसके अनुसार धर्मशास्त्र बने। जब हमें पता ही है कि हमारे लिये क्या ठीक है तब फिर शास्त्र की क्या जरूरत है ? जिसको हम नहीं समझ रहे हैं कि हमारे फायदे की चीज है परन्तु बताया जा रहा है कि हमारे फ़ायदे की है और हम मानते हैं कि वह फायदे की है तब वह शास्त्र है। इसीलिये मनु महाराज ने नियम कर दिया 'प्रत्यक्षेणानुमानेन यस्त्वर्थो नावबुद्ध्यते'—प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा जिस चीज का पता नहीं लग सकता—'एनं विदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता' उस बात को शास्त्र बतलाता है, इसीलिये तो वह शास्त्र है। जिसको हम अपनी बुद्धि से, अपने प्रत्यक्ष अनुमान से, अपने विचार से जान सकते हैं उसको तो हम उस प्रकार ही जान लेंगे। उसके लिये हमें वेद की क्या जरूरत है ? आदत बिगड़ गयी। जब हम यहाँ शासन को उपदेश देने लगे तब हम वहाँ परमात्मा को भी उपदेश देने लगे कि आपको ऐसा करना चाहिये। आदत जो बिगड़ गयी।

शास्त्र बतलाता है कि जहाँ तुमको घट दीख रहा है वहाँ सब ब्रह्म है। यह शास्त्रजनित दर्शन है। प्रत्यक्ष और अनुमान से यह पता लगेगा कि घड़े में सत्ता है या घड़े की सत्ता है। अर्थात् घड़ा है और उसमें कोई सत्ता नाम की चीज रहती है। शास्त्र-जनित दर्शन कहता है कि सत् ही घड़े रूप में दीख रहा है। घड़े में सत्ता नहीं है, सत् में घड़ा कल्पित है। यह शास्त्र-जनित दर्शन है। इसके संशयों को तो निवृत्त किया जा सकता है परन्तु यह है शास्त्रजनित दर्शन। सबके हृदय में परमेश्वर है। यहाँ तक तो लोग हिम्मत करके कह देते हैं। परन्तु जब यह कहा जाता है कि 'मुझ परमात्मा में सब हैं' तो लोग कहते हैं कि इसका दूसरा मतलब होता होगा, सचमुच में मुझ में तो हो नहीं सकता। लेकिन उपाधि-अनुवर्ति-स्वभाव-दर्शन का मिटना शास्त्रजनित दर्शन से होगा। इसलिये भगवान् ने कहा 'सर्वभूतानि चात्मनि' सारे अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड में जो अपने आप को देखता हो। 'सर्वभूतेषु चात्मानम्' यहाँ तक तो बात समझ में आ जाती है। सारे प्राणियों में कोई परमेश्वर होता है, वह रहता है। कोई बात नहीं। परन्तु भगवान् चुप नहीं रहे 'सर्वभूतानि च आत्मनि' सारे भूत मुझ में हैं, सब प्राणी मुझ में हैं। यह शास्त्रजनित दर्शन से है। इस प्रकार शास्त्रदर्शन से 'यथोक्तलक्षणमात्मानमनुतिष्ठेत्' आत्मा का जो उपर्युक्त लक्षण है, यथोक्त लक्षण है उसका बार-बार अनुष्ठान करे अर्थात् उपाधि को छोड़कर उस उपाधि वाला जो परमात्मा है उस परमात्मा को देखने का अभ्यास करे।

सुरघू ने ऐसा ही किया। करने से उसका चित्त शांत हो गया। चित्त शांत होने पर उन्होंने माण्डव्य महर्षि से पूछा, 'अब मुझे अपने स्वरूप का पता लग गया। अब आगे मेरा कर्तव्य कुछ नहीं है।' तब मांडव्य महर्षि ने कहा, 'तेरा कर्तव्य नहीं है इसलिये तू चिन्तामुक्त है। अब राज्य का पालन जैसे पहले प्रजा के लिये करता था वैसा ही करता रह। परन्तु 'मेरा कर्तव्य है', यह बोध करके नहीं। प्रजा को सुखी कर। परन्तु प्रजाजन सुखी हुए, इस बात की चिन्ता मत कर। उनके दुःखों को दूर कर। परन्तु उनके दुःख दूर नहीं हुए, इसकी चिन्ता करना तेरा कर्तव्य नहीं है। इसलिये सर्वथा कर्तव्यभाव से मुक्त होकर जैसा पहले तुम्हारा आचरण था, वैसा ही होता रहे।' सुरघू वैसा ही होकर चिन्तामुक्त अपना कार्य करता रहा।

उसका एक मित्र था परिभू। वह पारसीक देश का राजा था जिसको आजकल कहते हैं पर्शिया। उसके राज्य के अन्दर तरह-तरह के अनिष्ट होने लगे। वह सुरघू का मित्र था इसलिये अपनी तरफ से तो पूरा प्रयत्न करता था प्रजा के हित का। पर कभी बहुत ज्यादा बर्फ पड़ गई, ओले गिर गये, खेती बिगड़ गई। तरह-तरह के प्रयत्न करने पर भी वहाँ व्यवस्था सुधरी नहीं। प्रजाजन मरने लगे। अंत में दुःखी होकर उसने समझा कि वह कुछ नहीं कर सकता। यह मानकर राज्य छोड़कर वन में जाकर तपस्या में लग गया। तपस्या करते हुए उसने लम्बे समय तक साधना कर समाधि की प्राप्ति की। उस तपस्या काल में उसने अपना खाना पीना इतना छोड़ दिया था कि केवल सूखे पत्ते खाकर रहता था। इसलिये वहाँ की ऋषि मंडली के अन्दर उसका नाम पर्णाद करके प्रसिद्ध हुआ। समाधि के अनुभव में भी स्थित रहते हुए वह दीर्घ काल तक रहा।

वहाँ से किसी समय भ्रमण करते हुये वह हिमजट देश में सुरघू के पास पहुँचा। सुरघू ने बड़ा आदर सत्कार कर उसे बैठाया। कहा, 'तुम अपनी राज्य-व्यवस्था ठीक से करते तो हो ? प्रजा तुम्हारी सुखी तो है ?' तब उसने सारा किस्सा बतलाया और बोला, 'मैंने अपनी तरफ से पूरा प्रयत्न किया परन्तु ऐसी-ऐसी परिस्थितियाँ हो गई, मैं तो छोड़कर चला आया। मुझ से वह दुःख सहन नहीं हुआ।' सुरघू कुछ बोले नहीं। कहा, 'कुछ दिन यहाँ रहो आराम से।' उसने सुरघू के राज्य को देखा। खुद राजा रहा हुआ था। चीजों को समझने में देरी नहीं लगती है। जब वहाँ महीना-दो महीना रह गया तब उसने सुरघू से एक दिन पूछा कि 'तुम ऐसी व्यवस्था कर के भी निश्चिन्त हो। उस निश्चिन्त भाव को मैं तो इतनी समाधि के अभ्यास के बाद भी नहीं अनुभव करता हूँ। और तुम इतना सब करते हुये भी सर्वथा निश्चिन्त रहते हो, वह कैसे ?' तब सुरघू हँस पड़े। उन्होंने कहा, 'देख परभू अपने कर्तव्य को छोड़ने से कभी शांति मिलती नहीं। जो जिस कार्य के लिये परमेश्वर द्वारा निर्मित है उस कार्य को न करके कोई समझ ले कि मुझे सुख शांति मिल जायेगी तो यह कभी संभव नहीं है। क्योंकि जब तक शरीर है, जब तक मन है तब तक शरीर और मन क्या करे यह परमात्मा के द्वारा संकल्पित हो चुका है। तुम्हारी स्वतंत्रता इसमें नहीं है कि तुम क्या करो। तुम्हारी स्वतंत्रता इसमें है कि तुम वास्तविकता को

जानो। तुमने वास्तविकता को जानने का प्रयत्न नहीं किया। तुमने कुछ करके, कर्म के द्वारा शांति प्राप्त करने का प्रयत्न किया जो असंभव है। जब तुम कर्म से किसी चीज को प्राप्त करोगे तो उस नये कर्म से जो चीज प्राप्त होगी वह तुम्हारा स्वभाव होगी नहीं। गीता में भगवान् ने जहाँ कहा 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि' वहाँ आचार्य शंकर कहते हैं, प्रकृति मायने क्या? पूर्व जन्म में हमने जो कर्म किये हैं उन कर्मों के फलस्वरूप इस शरीर के प्रादुर्भूत होते समय परमेश्वर ने जो संकल्प कर लिया कि 'इस शरीर से यह काम करना है' वही इसकी प्रकृति है। प्रकृति शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग हो जाता है जैसे कह देते हैं 'इसकी प्रकृति गुस्सैल है'; उस अर्थ में यहाँ प्रकृति नहीं है। वह शरीर जिन धातुओं से बना है उस शरीर-मन से जो क्रियाएँ होनी हैं जो कुछ संपन्न होना है वह उसका स्वभाव है, स्वरूप है। उसको तुम अन्यथा नहीं कर सकते, उस को बदल नहीं सकते।

सुरघू ने कहा, 'हे परिभू ! हे पर्णाद ! तू सोचता है कि मैं ऐसा *करके* शांत हो जाऊँगा। पर *करके* कभी शांति नहीं हुआ करती। शांति तो इस बात को *जानकर* होती है कि इसकी प्रकृति क्या और मेरी प्रकृति क्या? जब पता लगता है कि मेरी प्रकृति शांत है तब शांति तुम्हारा स्वभाव हो जाता है। शरीर मन की शांति तुम्हारी शांति नहीं है। विचार करके देखो—तुम्हारा हृदय हर क्षण चलते हुए छह लीटर खून हजारों मील घुमाकर वापस अपने स्थान पर पहुँचा देता है। अगर सारी रक्त धमनियों और उप-धमनियों की नपाई करो तो हजारों मील निकलेंगी। उतना सारा घूम कर खून एक मिनट में हृदय में पहुँच जाता है। कभी थके हो क्या ? क्यों नहीं थकते ? क्योंकि तुम हृदय को अपना काम करने दे रहे हो। वह उसका स्वभाव है, उसकी प्रकृति है। शरीर में घाव हो गया। घाव में पीप हो गई। पीप चीज क्या होती है ? तुम्हारे शरीर के अन्दर युद्ध करने वाले तत्त्व मौजूद हैं, अंग्रेजी वाले उन्हें ल्यूकोसाइट कहते हैं। वह सारी तुम्हारी फौज है। जैसे ही बाह्य शत्रु-कीटाणु तुम्हारे पर आक्रमण करते हैं, वे तत्त्व तुरंत कमर कस के पिल जाते हैं, उनको मारने लगते हैं। अब युद्ध में तो दोनों तरफ के लोग मरते हैं। वे कीटाणु भी मरे और कुछ तुम्हारे भी योद्धा मरे लड़ाई में। उस भयंकर युद्ध में जो सारे मुर्दे पड़े हुये हैं उसका नाम पीप है। तुम्हें कुछ पता लगता है कि इतना बड़ा युद्ध हो रहा है ? क्यों ? तो हृदय की गति से, रक्त के युद्ध से उस नाम रूप से तुम प्रभावित नहीं

हुये। उस नाम रूप में 'यह मैं लड़ रहा हूँ, मैं रक्त चला रहा हूँ'—यह अविद्या, यह नाम रूप का अज्ञान तुम्हें नहीं है। वह तो अपना काम कर रहा है। इससे यह पता लगता है कि शरीर मन का जो प्रारब्ध और प्रकृति है वह तो अपने ढंग से चलेगी। तुम अभिमान करो तो चलेगी—ऐसी बात नहीं है।

अतः सुरघू ने कहा, 'वह तो जैसा प्रारब्ध है उसके अनुसार होता है। उसके अनुसार होना, न होना तुम्हारे हाथ में नहीं। उसकी चिंता तुम्हें नहीं करनी। तुम अपने स्वरूप को जानो।' फिर उन्होंने सुरघू से पूछा, 'आप बताइये।' जैसे उन्होंने मांडव्य महर्षि से समझा था वैसा ही उन्होंने उसको उपदेश दिया। परिभू कहने लगा कि 'बात तो समझ में आई परन्तु इसमें स्थिरता करने के लिये पुनः जंगल में जाऊँ।' उन्होंने कहा, 'नहीं। तुम अपने राज्य में जाकर राज्य की व्यवस्था जैसी पहले संभालते थे वैसे ही प्रजा के कल्याण के लिये करते हुए रहो। उसी से तुम्हारी स्थिरता आयेगी। अन्यथा जिस उद्देश्य से परमेश्वर ने तुम्हारे शरीर-मन को बनाया वह उद्देश्य पूर्ण नहीं करोगे तो हमेशा ही तुम्हारा यह जो विचार है कठिनाई पैदा करता रहेगा। क्योंकि यह जो तुम्हारा मन है वह परमेश्वर ने किसी कार्य के लिये बनाया, तुम उसे नियुक्त किसी अन्य कार्य में करोगे तो तुम्हारी शांति भंग हो जायेगी। यह जिस कार्य के लिये बना वह कार्य यह करे। तुम शांत भाव में स्थित रहो तब तुम्हारी शांति पूर्ण होगी।' परिभू ने वापस अपने देश जाकर वहाँ अपना राज्य आरंभ किया। थोड़े दिनों में वहाँ भी शांति और सुख का साम्राज्य हो गया।

किसको छोड़ना है ? नाम रूप के दर्शन को छोड़ना है और शास्त्रजनित दर्शन जो सच्चिदानंद का है उसमें स्थित होना है। यह उसका अनुष्ठान है। कहाँ करे ? तो कह दिया **'सर्वत्र'** सब जगह। अहम् से लेकर घट-पटादि सारे पदार्थों तक तुमको यह सच्चिदानंदरूपता का, यह जो अधिष्ठान तत्त्व है उसका दर्शन करना है। एक जैसा सब नाम रूप को अध्यस्त और उसको अधिष्ठान देखना है। कब तक करे , कोई टाईम लिमिट तो होवे ? कहा **'प्राध्वं चास्य सदाचरेत्'** अध्व कहते हैं रास्ते को। सदा, हमेशा ही इसमें स्थित रहना है। अपने आत्मस्वरूप में हमेशा स्थित रहना है। शरीर-मन को तो परमात्मा ने बनाया, शरीर मन अपना आचरण करेगा। परन्तु तुम्हारा

जो अपने स्वरूप में स्थित होना है वह तो शरीर मन के छूटने के बाद भी वैसे ही बना रहेगा, तुम अपने स्वरूप में स्थित रहोगे। ऐसा नहीं है कि शरीर मन के छूटने पर तुम्हें कोई नई चीज़ की प्राप्ति होगी। कुछ नहीं। जो प्राप्त होना था वह तो जैसे ही तुम्हारा परिशुद्ध ज्ञान हो गया तुमको प्राप्त हो गया; फिर चाहे शरीर मन रहे, न रहे, कुछ अंतर नहीं। बाह्यपणा को छोड़ना है—'आत्मैकत्वरसप्रज्ञताम्' आत्मा की एकरसता का जो प्रज्ञान है उसके अन्दर हमेशा स्थिर बने रहना है। 'सर्वत्र आचरेत्' और 'सदाचरेत्' सब जगह, सब चीजों में और सब काल में।

'दुर्दर्शम्'। कहते हैं अगर इसको तुम ध्यान से नहीं करोगे तो यह जो दर्शन है वह सरलता से होने वाला दर्शन नहीं है। इसलिये **'निपुणं'** यह जो परमात्मतत्त्व है यह निपुण है। क्योंकि दुर्दर्श है इसलिये निपुण है। अत्यन्त कुशलतापूर्वक समाहित-चित्त होकर जब तुम इसको देखते हो तब यह साक्षात् उपलब्ध होता है। भगवान् ने गीता में कहा 'अहमात्मा गुडाकेश! सर्वभूताशयस्थितः' अहम् जो तुम्हारा है यह सब प्राणियों में इसी नाम से कहा जाता है। किसी से पूछो 'तुम कौन हो ?' तो कहता है, 'मैं हूँ।' तो जिसे तुम मैं कह रहे हो और जिसे वह मैं कह रहा है वह मैं अलग थोड़े ही हैं। जब तक हम समाहित-चित्त होकर अत्यन्त कुशलतापूर्वक इस काम को नहीं करेंगे तब तक यह दुर्दर्श है। इस प्रकार से निपुणता से युक्त होकर **'यः पश्येत्'** जो इस दर्शन को कर लेता है **'स मोदेत विष्टपे'** वह हमेशा हर समय--मोद ही मोद—आनन्द में रहता है।

●

प्रवचन-१०

यह बतलाया कि जो परमात्मतत्त्व का अनुभव करता है वह आनन्द में रहता है। उसकी उपलब्धि के प्रकार को बतलाते हैं—

'आत्मन् पश्यन् सर्वभूतानि न मुह्येच्चिन्तयन् कविः।
आत्मानं चैव सर्वत्र यः पश्येत् स वै ब्रह्मा नाकपृष्ठे विराजति।।९।।'

'सर्वभूतानि आत्मन् पश्यन्' सारे भूतों को अर्थात् सारे भूत और भूत में उत्पन्न होने वाले भौतिक कार्यों को। वेदान्त की दृष्टि में सारा बाह्य अनात्मपदार्थ भौतिक है। अनात्मा की अनेकविधता को समझने के लिये हम लोगों को स्वाभाविक रूप से उसका वर्गीकरण करना आवश्यक हो जाता है। एक बात हमेशा याद रखनी चाहिये कि कोई भी चीज किसी दूसरी चीज के साथ एक वर्ग में *सर्वथा* नहीं आया करती। प्रत्येक चीज एक दूसरे से भिन्न है और भिन्न ही रहेगी। यहाँ तक कि छोटे से छोटा एक परमाणु भी दूसरे परमाणु से भिन्न है। इसलिये कणाद महर्षि ने इस परमाणु के अन्दर भी एक *विशेष* गुण को स्वीकार किया है जिसके कारण वह ठीक उस चीज के दूसरे परमाणु से अलग है। सोने के दो परमाणुओं को लोगे तो यद्यपि दोनों परमाणुओं में किसी प्रकार का भेद तुम्हें नजर नहीं आता फिर भी जानते हो कि यह परमाणु वह नहीं है और वह परमाणु यह नहीं है। इसको बताने वाली कोई चीज जरूर है। उसीको कणाद ऋषि *विशेष* नाम से कहते हैं। हर चीज के अन्दर अपना विशेष है। अतः जब वर्गीकरण करेंगे तब उस विशेष गुण को तो नज़रन्दाज़, अपनी दृष्टि से ओझल करना ही पड़ेगा। जबतक उस विशेष गुण को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं करोगे तब तक तो उन दोनों के अन्दर भी एक वर्ग को ला नहीं सकते। यह तो हुआ जब परमाणुओं की बात है। आगे जब पदार्थों का निर्माण होता है तब उनमें तो कई तरह के भेद होते हैं। विचार करके देखो कि अगर तुम्हें यह पता लगाना है कि दिल्ली में ब्राह्मण कितने हैं तो ब्राह्मणों के अन्दर तुम्हें ब्राह्मणों के सारे भेद भी लेने पड़ेंगे—कोई मांसाहारी भी होगा, कोई शाकाहारी होगा, कोई शराबी भी होगा। ये सारे भेद रहते हुये ही उन सबको वर्गीकृत करके कहोगे कि ये ब्राह्मण हैं। उनमें आदमी भी होंगे

और औरतें भी होंगी। अगर तुम्हें पुरुष और स्त्री का भेद करना है तो जो अभी ब्राह्मण के वर्ग में हैं वह स्त्री वर्ग में चली जायेंगी और जो पहले अब्राह्मण वर्ग में थे वे भी स्त्री वर्ग में मिल जायेंगे। आगे तुम्हें यह वर्गीकरण करना है कि पाँच हजार रुपये से अधिक कमाने वाले कौन-कौन हैं, तो अभी तक तुमने जिन्हें ब्राह्मण वर्ग में गिना था उनमें से बहुत से नहीं आ पायेंगे उसमें। वर्गीकरण जब किया जाता है तब कुछ चीजों को तुम अपनी दृष्टि से दूर करके, किसी एक दृष्टि को लेकर वर्ग का निर्माण कर लेते हो।

यह विचार करने के लिये होता जरूरी है। बिना वर्ग बनाए हुये हम चीजों को समझ नहीं पाते क्योंकि अनन्त चीजें हैं। महाभाष्यकार पतंजलि लिखते हैं—इंद्र, प्रजापति ब्रह्मा के पास भाषा का ज्ञान करने गया। इंद्र जैसा व्यक्ति तो अध्येता था, पढ़ने वाला, और प्रजापति जैसे साक्षात् ब्रह्मा उपदेश देने वाले। दिव्य एक हजार वर्षों तक वे पढ़ते रहे। हमारे हजार वर्ष नहीं, *दिव्य* हजार वर्ष। लेकिन 'नान्तं जगाम'—यह नहीं हुआ कि सारी भाषा पढ़ ली ! इन्द्र ने विचार किया जब इतना प्रयत्न करके मैं नहीं पढ़ पाया तो कैसे पढ़ा जायेगा लोगों से ? तब इन्द्र पहला व्यक्ति हुआ जिसने व्याकरण बनाया। पहला व्याकरण—ऐन्द्र व्याकरण। व्याकरण का उद्देश्य है कि हर शब्द को अलग से न सीखना पड़े। तुम एक शब्द को सीखो और उसके संबंधी हजारों शब्द तुम्हें पता लग जायें। तुम्हें 'रामस्य कृष्णस्य' अलग अलग न पढ़ना पड़े—कोई ऐसा ढंग होवे जिससे तुम जितने अकारान्त शब्द हैं सबका षष्ठी एकवचन में रूप बना लो। इस प्रकार प्रकृति-प्रत्यय का भेद किया गया। शब्द तो अलग-अलग ही हैं लेकिन समझने के लिये वर्गीकरण किया गया। वर्गीकरण करोगे तो उसमें हमेशा अपवाद होंगे, कुछ शब्द उन नियमों से नहीं रहेंगे। इन अपवाद शब्दों के लिये वर्ग बनाया गया, गणपाठ बनाने पड़े। इस प्रकार वर्गीकरण कर लेने पर आगे उसका और परिष्कार होते होते हमारे समय का जो परिष्कार है वह पाणिनि का किया हुआ है जिसको पढ़कर हमें संस्कृत भाषा के निर्माण का ज्ञान हो जाता है। वर्गीकरण किये बिना पढ़ना भी मुश्किल और जब वर्गीकरण करके पढ़ते हो तब हमेशा कुछ चीजें नियम से इधर उधर रहेंगी ही क्योंकि वस्तुतः वर्ग कभी बनता नहीं।

इसी प्रकार सृष्टि को समझने के लिये हम यदि हर पदार्थ को अलग-अलग समझें तो वह संभव नहीं। वैज्ञानिकों ने भी पदार्थों का वर्गीकरण किया जिसको Periodic table कहते हैं। यह एक ढंग हुआ, रसायन शास्त्र में यह प्रधान रहेगा। उससे हमें पदार्थों का पता लगता है। वेदान्त शास्त्र के अन्दर जगत् को समझने के लिये हम लोगों ने पांचभौतिक वर्गीकरण किया। कई बार लोग पूछते हैं कि 'महाराज, आप पाँच तत्त्वों को मानते हैं, आजकल के जमाने में लोग बहुत ज्यादा तत्त्वों को मानते हैं।' तत्त्व तो एक शब्द हुआ। *तत्* का जो स्वरूप होगा वह तत्त्व होगा। अब तत् तुम कहते किसको हो ? इससे अंतर पड़ेगा। तत् तो सर्वनाम है। किसी भी वर्ग को लेकर तुम उसे तत्त्व कहोगे। हमने यह अनुभव किया कि मनुष्य रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द—इन पाँच के सिवाय किसी छठी चीज का अनुभव नहीं करता। जिसका इसको साक्षात् ज्ञान होता है वह रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्श ही हैं। अतः हमारा वर्गीकरण पाञ्चभौतिक इस आधार पर है कि रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्श का ज्ञान जिस जगह से होता है वह तत्त्व है। अतः सारी सृष्टि को हमने पाञ्चभौतिक कहा, पंचभूत के वर्ग में बाँटा, सारा विषय जगत् पाञ्चभौतिक हो गया। भौतिक पदार्थ ज्ञात हो रहा है, *स्फुर* रहा है, प्रकट हो रहा है—यह जो प्रकट होना है, यह जो *स्फुरना* है, यह है ज्ञानरूपता। इसलिये ज्ञान ही पञ्च महाभूतों के रूप में स्फुरण हो रहा है। या रूप का स्फुरण होता है या रस का या गन्ध का या शब्द का या स्पर्श का स्फुरण होता है। होता तो पाँचों का स्फुरण ही है। जो यह स्फुरणात्मक है यह तो है ज्ञानस्वरूप आत्मा और बाकी जिस रूप से स्फुरण हो रहा है वह हो गये सारे पंचभूत। जहाँ जहाँ भौतिक चीज होगी वहाँ वहाँ उसका स्फुरण करने वाला चेतन ज्ञान भी मौजूद होगा।

इस बात को जब तक ठीक से नहीं समझ लिया जाता तब तक हम लोगों के प्रतिदिन के व्यवहार को ही ठीक तरह से नहीं समझा जा सकता। हम मकान बनाते हैं। दुनिया में सब मकान बनाते हैं। लेकिन हमारे यहाँ खाली मकान नहीं बनता है। जैसे ही मकान बनता है वैसे ही गृहदेवता बन जाता है। यह तो संसार में सब लोगों की, मनुष्यों की समझ में आता है कि माता पिता से जीवित पुत्र उत्पन्न हुआ। यह तो संसार में ईसाई

मुसलमान भी जानता है। परन्तु हम लोग कहते हैं कि वहाँ पर भी माता पिता ने तो शरीर का निर्माण किया जो भौतिक है—रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्श वाला है। लेकिन जैसे ही भौतिक शरीर बना वैसे ही वहाँ जीवात्मा है। ऐसे ही जब हमने ईंट पत्थर मिलाकर मकान बनाया तो एक भौतिक चीज बनाई। इसका भी स्फुरण हो रहा है तो यहाँ भी स्फुरणात्मक रूप गृहदेवता है। शहर बनाया तो ग्राम देवता है। अतः हम लोग हर चीज के अन्दर इस स्फुरणात्मक तत्त्व को देखते हैं, इसका अभ्यास करते हैं। मकान बनाना शुरू करते हो, सबसे पहले क्या करते हो ? जो कुदाली है उस पर मौलि बाँध कर उसका तिलक करते हो। वह भी एक देवता है। उससे भी प्रार्थना की जाती है कि मकान ठीक से बने। फिर उसके बाद वहाँ जो खाती है, जो मकान बनाने वाला है उसको तिलक करते हैं, उसे मौलि बाँधते हैं, उसका पूजन करते हैं। यह सब हर चीज के अन्दर इस का अभ्यास कराने के लिये; करनी तो वहाँ आत्मदृष्टि है, स्फुरण रूप से ज्ञानदृष्टि है, परन्तु विशेष विशेष समय पर तुम्हें करवाकर याद दिलाते हैं। बाकी समय तुम्हें अपने आप अभ्यास करना है। संसार में जो है वह पाञ्चभौतिक है और जहाँ पाञ्चभौतिक है वहाँ स्फुरणरूप से परमात्मा विद्यमान है। इसलिये 'सर्वभूतानि आत्मन् पश्यन्' इस प्रकार सारे भूत-भौतिक जगत् को जो आत्मा में, स्फुरणरूप आत्मा में, ही विद्यमान देखता है।

कल बतलाया था कि नामरूपात्मक संसार के जो पदार्थ हैं उनसे ही चेतन ढका हुआ है। कैसे ढका हुआ है ? गीता में भगवान् ने कई दृष्टांत दिये—'धूमेनाव्रियते वह्निः' जैसे धुएँ से आग ढकी होती है। गहरा धुआँ होवे तो अन्दर आग जलती रहने पर भी दीखती नहीं है। 'यथादर्शो मलेन च' काँच तो बिल्कुल साफ है लेकिन उस पर धूल जमी हुई है इसलिये चेहरा दीखता नहीं है।. 'यथोल्बेन आवृतो गर्भः' जैसे जरायु के द्वारा, placenta के द्वारा बच्चा ढका हुआ है; बच्चा उसमें है पर दीखता नहीं है। ये सब ढाँकने वाली चीजें नामरूपात्मक हैं। ऐसे जगत् परमात्मा को ढाँक रहा है।

यहाँ आपस्तम्ब महर्षि विचित्र बात कहते हैं। कहते हैं कि भले ही धुएँ से आग दीखती नहीं है परन्तु धुएँ से ही आग को देखने का प्रयास करो ! तुम जैसे ही दूर में धुआँ देखते हो तुम्हें वैसे ही बिना आग देखे

ज्ञान हो जाता है कि वहाँ आग है। जो धुआँ आग को ढाँकने वाला है उसी धुएँ को तुमने आग के ज्ञान का कारण बना लिया। इसी प्रकार तुम्हें अपना मुख दीख नहीं रहा है, काँच पर धूल के कारण। लेकिन धूल जो चमक रही है वह काँच की चमक के कारण चमक रही है, क्योंकि मटके के ऊपर पड़ी हुई धूल ऐसे चमकती नहीं। तो काँच पर पड़ी हुई धूल के चमकने से ही तुम काँच को प्रतिबिम्बित करने वाला जान लेते हो। जरायु में तुम्हें बच्चा दीख नहीं रहा है लेकिन जरायु को देखकर के ही न तुम्हें पता लगता है कि बच्चा हो गया, प्रसव हो गया। बच्चा तो नहीं दीख रहा है लेकिन जरायु को देखकर ही तुम्हें पता लग गया कि यहाँ बच्चा है। जो नामरूपात्मक जगत् उस आत्मतत्त्व को ढाँक रहा है वह नामरूपात्मक जगत् स्फुरित हो रहा है इस ज्ञान से ही। वहाँ तुम स्फुरण होने वाले तत्त्व को देखो। जो अब तक ढाँकने वाला था वही तुम्हें याद दिलाने वाला हो गया।

बाकी साधनाओं के अन्दर तो लोगों की समस्या है कि इस सारे नाम-रूप के व्यवहार को करते हुये परमात्मा के भजन का समय कैसे निकालें क्योंकि यह नामरूप परमात्मा को ढाँकता है। अब वेदान्त कहता है कि इस नामरूपात्मकता के द्वारा ही तुम परमात्मा का निरंतर स्मरण कर सकते हो। अन्यथा भगवान् ने जो गीता में कहा है--'तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर' वह संभव नहीं होगा। भगवान् ने कहा सब कालों में मेरा अनुस्मरण करो और युद्ध करो। यह भगवान् ने नहीं कहा है कि चार घंटा, छह घंटा अनुस्मरण करो, चार घंटा, छह घंटा युद्ध करो। यह तो भगवान् ने नहीं कहा। 'तत् तत् कालेषु' कह देते—उस-उस काल में; जब तुम्हें काम करना हो तब काम कर लो और जब भजन करने का समय हो तब भजन कर लो। यह तो कहा नहीं उन्होंने। उन्होंने कहा 'सर्वेषु कालेषु।' इसका मतलब है कि जिस समय में युद्ध कर रहे हो, युद्ध-काल है उस समय भी अनुस्मरण चलेगा और जिस काल में अनुस्मरण कर रहे हो उस काल में युद्ध भी चलेगा। तब ही सर्व काल में हो सकता है। इसीलिये युद्ध का अर्थ वहाँ केवल शस्त्र चलाना नहीं ले सकते क्योंकि शस्त्र तो चौबीसों घंटे नहीं चलाओगे और फिर यावत् जीवन भी नहीं चलाओगे। युद्ध होगा तभी न शस्त्र चलाओगे ! इसलिये यहाँ सामान्य शस्त्र वाले युद्ध को नहीं

कहा जा रहा।

हर बार जब तुम नामरूप को देखते हो तब नामरूप अपना तीर चलाता है--मुझे देखो। तुम अपना तीर चलाओ--हे नाम रूप !-तू ज्ञान से स्फुरित हो रहा है इसलिये ज्ञान से अतिरिक्त नहीं है। यह युद्ध सब काल में होगा। जाग्रत् काल में भी मन में कोई न कोई वृत्ति बनेगी। स्वप्न काल में भी मन में कोई न कोई वृत्ति बनेगी। जब जब वृत्ति बनेगी तब तब कहेगी 'पदार्थ है' और तुम कहोगे 'पदार्थ दीख रहा है, है तो स्फुरण'। यह युद्ध सब समय हो रहा है। तुम अपनी तरफ से क्या कर रहे हो ? चूँकि तुम ज्ञानात्मकरूपता को देख रहे हो इसलिये अनुस्मरण कर रहे हो। अनुस्मरण करना ही युद्ध करना है। नामरूप कहता है 'मुझे सच्चा मानो, मैं दीख रहा हूँ' और हम कहते हैं 'दीख रहे हो न, इसीलिये झूठे हो ! इसलिये हम जिस ज्ञानस्वरूपता का अनुस्मरण कर रहे हैं वही हमारी तरफ से चलने वाला तीर है। सब काल में अनुस्मरण और यह युद्ध होता रहेगा। सुषुप्ति काल में चूँकि कोई नामरूप अपने को प्रकट नहीं कर रहा है इसलिये तुम्हें युद्ध करने की जरूरत नहीं है, तुम्हें अनुस्मरण करने की भी जरूरत नहीं है। और चूँकि सुषुप्ति समय में तुम्हें काल का भी कोई भान नहीं है इसलिये वह 'सर्वेषु कालेषु' के अन्तर्गत आता भी नहीं है। उस समय तुम्हें काल का भान तो है नहीं। काल का भान जाग्रत्-स्वप्न में और जाग्रत्-स्वप्न में यह युद्ध और अनुस्मरण निरंतर चल जायेगा। इस प्रकार जो ढाँकने वाली चीज है उसको तुमने परिवर्तित कर दिया।

'आत्मन् पश्यन सर्वभूतानि' तब **'न मुह्येत्'** किसी भी प्रकार से तुम मोह को प्राप्त कर ही नहीं सकते क्योंकि जो मोह को प्राप्त कराने वाली चीज थी उसी को तुमने मोह को काटने वाला बना लिया। यह अभ्यास से हो जाता है। बृहदारण्यक भाष्य में भाष्यकारों ने विलक्षण दृष्टांत दिया है—हम लोग देवनागरी लिपि का अभ्यास किये हुए हैं। अब हमसे तुम कहते हो 'यहाँ क्या लिखा हुआ है ?' तो हम कहते हैं, 'आत्मन् पश्यन्' लिखा हुआ है। तुम कहते हो, ''आत्मन् पश्यन्' यह तो ध्वनि है। यहाँ कहाँ लिखी हुई है ?' वह बात तो ठीक है। ध्वनि तो गले में ही रहेगी। परन्तु ऐसा नहीं है कि हमें सामने लकीरें दीखती होवें और फिर हम कल्पना करें कि यह आत्मन् पश्यन् है। बात तो यही है कि लकीरों में हमें *आ*

की कल्पना करनी पड़ती है। इसी प्रकार *त्म* इत्यादि की। आँख से जो दीख रहा है वह तो सफेद कागज पर काली लकीरें ही दीख रही हैं। यह बात तो ठीक है परन्तु दीर्घ काल के अभ्यास के कारण हमें प्रतीति तो यही होती है कि हमें आत्मन् साफ दीख रहा है। कोई दूसरा कहेगा कि हमें नहीं दीख रहा है तो उससे यही पूछा जायेगा कि वह देवनागरी लिपि जानता है कि नहीं। यह *आ* नहीं है, यह *त्म* नहीं है—आ और त्म तो वह है जो तुम्हारे कंठादि देश में होने वाले हैं। लिपि शब्द नहीं होने पर भी इनके द्वारा तुम्हें सीधे ही शब्द का भान हो जाता है।

इसी प्रकार यह नामरूपात्मक जगत् ज्ञान नहीं है, यह तो कल्पित है। स्फुरण सच्चा है। जगत् तो बदल रहा है, स्फुरण एकरूप रहता है। है नहीं, लेकिन जब दीर्घकाल तक अभ्यास हो जाता है तो हर नामरूप उसका स्फुरण करता है। इसीलिये भाषा के किसी कवि ने कहा है :

'आँख न मूँदूँ कान न रूँदूँ हँस हँस रूप निहारूँ।'

न मुझे कहीं कमरा बन्द कर आँख बन्दर करने की जरूरत है, न कोई योनि मुद्रा लगाकर कान बंद कर नाद को सुनने की जरूरत है क्योंकि मैं तो रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्श, जिस भूत भौतिक चीज का अनुभव करता हूँ उसमें अनुभव उसी को कर रहा हूँ।

हमेशा क्या करता रहे ? तो कहा—**'चिन्तयन्'** सारे भूतों की आत्मरूपता के लिये क्या करना है ? तो इन्द्रियों को उपसंहृत करते हुए आत्मदर्शन करना है, इन्द्रियाँ तो विषय को ही देखेंगी लेकिन इन्द्रियों से विषय को देखते हुए ही तुम्हें अपनी आंतरिक दृष्टि से, बौद्धिक दृष्टि से आत्मा को देखना है। इसलिये कहा 'चिन्तयन्'। इसलिये भाष्यकार कहते हैं 'उपसंहृतकरणः'। ठीक जिस प्रकार अक्षर का दृष्टांत वहाँ दिया : इन्द्रिय के द्वारा सफेद कागज पर काली लकीरें ही दीख रही हैं लेकिन काली लकीरें न देखकर तुम शब्द देख रहे हो क्योंकि इतना अभ्यास हो गया है। इसी प्रकार तुम यहाँ सब पदार्थों को देखते हुए, नहीं देख रहे हो ऐसा नहीं है; उपसंहृतकरण होकर इन्द्रियों द्वारा जो दीख रहा है उसको देखते हुये ही जो उसको दिखा रहा है उसको तुम देख लेते हो, यह है 'चिन्तयन्'।

ऐसा चिन्तन कौन कर सकेगा ? **'कविः'** पहले भी आया था कवि—जो क्रान्तदर्शी हो। जो यह कहेगा कि हमें जो आँख से दीख रहा है वही देखेंगे

वह कवि नहीं। जब यह दीख रहा है सफेद पर काला तो इसको हम 'आ' क्यों माने ? तो इसका कोई जवाब नहीं है क्योंकि 'आ' किसी भी आकार को कह सकते हैं। यहाँ दो गोले बनाकर सामने एक दंडा घुसाकर एक दंडा तान देते हो तब 'अ' हो जाता है। अंग्रेजी में एक ही बिन्दु से दो कोनों में दो टाँगें लटका देते हो और बीच में एक दंडा घुसा देते हो तो उसको 'अ' 'A' कह देते हैं। अगर ग्रीक भाषा में देखोगे तो एक गोला बनाकर उससे दो जीभें निकाल दो तो alpha (α) बन जायेगा, 'अ' बन जायेगा। इसमें कोई यह नहीं कह सकता है कि एक यही 'अ' क्यों हैं? यदि कोई पूछता है कि हमें इन्द्रियों से दीख रही रेखाएँ 'अ' क्यों हैं ? तो यही कह सकते हो कि अगर तुम इसको 'अ' समझ लो तो तुम वेदों से लेकर आज के अखबार तक बाँच सकते हो। यह प्रमाणित ज्ञान तो नहीं है कि ऐसा ही 'अ' होता है लेकिन ऐसा न मानने से तुम वेदों से लेकर आज के अखबार तक बाँच नहीं सकते। इन्द्रियों से तुम्हें नामरूप ही दीखता है। इसलिये चिन्तन के लिये भाष्यकारों ने कहा करणों को उपसंहृत करना। इन्द्रियों से नामरूप देखते हुये ही क्रान्तदर्शी होने के कारण, मेधावी होने के कारण तुम उसमें परमात्मदर्शन कर लेते हो।

'यः सर्वत्र आत्मानं चैव पश्येत्' इस प्रकार जो सर्वत्र आत्मदर्शन करता है। पहले 'पश्यन्' कहा और अब 'पश्येत्' कहा। ऐसा क्यों कहा? आचार्य शंकर स्पष्ट करते हैं—'न शब्दजनितदर्शनमात्रेण मोहापगमः'। केवल शब्द से उत्पन्न दर्शन; हम कह रहे हैं इससे तुम्हें थोड़ा आभास तो होता है, लेकिन इतने मात्र से मोह हटता नहीं है। कई बार लोग यही कहते हैं 'महाराज! जब कथा सुनते हैं तब तो बिल्कुल ऐसा लगता है कि यह संसार सच्चा ही नहीं। लेकिन घर पहुँचते पहुँचते फिर सच्चा ही लगने लगता है संसार।' तो यहाँ जो हो रहा है उसको भाष्यकार कहते हैं शब्दजनितदर्शन-मात्र—शब्द से उत्पन्न दर्शन मात्र। इतने मात्र से मोह का अपगम नहीं होगा। इतने मात्र से तुम्हें नामरूपात्मक जगत् देखकर मोह की प्राप्ति हो ही जायेगी। अपगम कब होगा 'सर्वभूतेष्वनुप्रविष्टमेकं संव्यवहारकाले यो हि युक्तः पश्येत्' संसार के प्रत्येक व्यवहार काल में सारे भूतों के अन्दर प्रविष्ट उस एक तत्त्व को जब देखने का तुम्हारा अभ्यास हो जायेगा तब यह मोह नहीं होगा। इसलिये शुरू में हम लोग कहते हैं कि बैठकर चार

घंटे ध्यान करो। तब तुम्हें व्यवहार करना नहीं। परन्तु पहुँचना कहाँ है?

एक महात्मा थे। उनके शिष्य ने कहा, 'महाराज! परमात्मप्राप्ति का सबसे सरल मार्ग कौन सा है ?' उन्होंने कहा, 'बड़ा अच्छा है कि तुम्हारे मन में यह भावना आई। कल आना हम बतला देंगे।' अगले दिन आया तो उसको उन्होंने एक आह्निक ग्रंथावलि दे दी। उठने से लेकर रात को सोने तक, दिनभर कैसे-कैसे व्यवहार करे, क्या पूजा, ध्यान पाठ इत्यादि करे सब उसमें लिखा था। बोले, 'यह नियम से करो तो फिर तुम्हें परमात्मा की प्राप्ति हो जायेगी।' वह बड़े प्रेम से पुस्तक लाया और उसके अनुसार काम करने लगा। हम लोगों के यहाँ पूजा करने का नियम तो यह है कि फूल का पेड़ भी खुद लगाना चाहिये। बाजार से खरीदे हुये फूलों को हम पूजा के योग्य नहीं मानते। तो वहाँ से ही तुम्हारा कार्यक्रम शुरू हो जाता है। वह पुस्तक ले आया तो उसके अनुसार करने लगा। छह महीने हो गये। जितना भी प्रयत्न करे वह काम पूरा नहीं होवे। कुछ न कुछ बाकी रह जाये। छह महीने के बाद उसके मन में आया कि 'हमारे लिये इतना कुछ बतला दिया लेकिन गुरुजी को कुछ करते देखा नहीं।' एक दिन उसने सोचा 'आज तो मैं बिना गुरुजी से कहे हुये सवेरे से दूसरे दिन सवेरे तक गुरुजी जो करते हैं वह सब देखता रहूँगा। वह जाकर आश्रम में छिप गया। गुरुजी सभी काम करते रहे। शाम को जब दीपक ज्योति जलाई तो उस समय में गुरुजी ने उस दीपक ज्योति को नमस्कार कर लिया। सवेरे जब उठे तब उन्होंने थोड़ा प्रातः स्मरण कर लिया। चेला अगले दिन आकर कहने लगा, 'गुरुजी आपने तो मुझे संकट में डाल दिया। मैं तो सवेरे से शाम तक परेशान रहता हूँ क्योंकि कोई न कोई काम बाकी रह जाता है, सारे कर्तव्य पूरे नहीं हो पाते। आपको देखा तो आप दिन भर में दो ही बार स्मरण करते हैं। उतने से ही आपका काम हो जाता है तो वही रास्ता मुझे बता दीजिये।' गुरुजी कहने लगे, 'जो दो बार तुमने मुझे परमात्मचिन्तन करते हुये देखा है वही दो क्षण मेरे बेकार हैं। क्या दीप की ज्योति जलने पर परमात्मा कोई विशेष प्रकार का है ? क्या सवेरे के समय कोई विशेषता होगी कि उस समय स्मरण किया जाये ? परन्तु पुराने संस्कारों के कारण उस समय मैं बाकी समयों से कुछ भिन्नता देखता हूँ यह मेरी कमजोरी का कारण है। बाकी समय परमात्मा अपने को जिस रूप में प्रकट कर

रहा है मैं उसे देख रहा हूँ। परन्तु तुझे अभी यह दृष्टि नहीं है इसलिये यह दृष्टि बनाने के लिये तुझे वही करना पड़ेगा।'

जब हम लोग कहते हैं कि दो-चार घंटे बैठकर भजन करो तो कहोगे, 'महाराज एक तरफ तो कहते हैं 'सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर', फिर दुकान में भी काम करते हुये परमात्मा का स्मरण कर सकते हैं।' अरे भाई ! वहाँ पहुँचना है। अभी तो तुम चुपचाप बैठकर ध्यान करोगे तो भी ध्यान नहीं कर पाओगे ! तुम ध्यान करना शुरू करोगे 'ध्येयःसदा सवितृमण्डल-मध्यवर्ती' सूर्य मंडल के अन्दर विद्यमान जो नारायण है...तब तुम्हें याद आयेगा कि सूर्योदय का समय हो गया, एक टेलीफोन करना था वह तो बाकी रह गया ! इसलिये व्यवहार काल में क्या करोगे जब व्यवहार से निवृत्त काल है तभी नहीं कर पा रहे हो। परन्तु जब 'संव्यवहारकाले सर्वभूतेष्वनुप्रविष्टमेकं' संव्यवहार—सारे व्यवहारों को करते हुये भी तुम—अनुप्रविष्ट—उस एक को देखते हो, तब यह जो कहा है—'न मुह्येत्'—फिर मोह को प्राप्त नहीं करते। तब तक तो प्रयत्नपूर्वक तुम्हें करना ही पड़ेगा।

जब ऐसा देख लेता है, साक्षात्कार कर लेता है सारे व्यवहारों के अन्दर हर समय परमात्मा की प्रतीति होती है तब **'नाकपृष्ठे'**। वैसे तो नाक स्वर्ग को कहते हैं। स्वर्ग को भी नाक क्यों कहते हैं ? 'क' शब्द का अर्थ होता है सुख। यजुर्वेद में कहा है—'ॐकम् ब्रह्म', कं सुखम्। जो सुखरूप न होवे वह हो गया अक। कं हुआ सुख। सुख नहीं हुआ तो उसी को अक कहा। जो सुख नहीं ऐसा कभी न होवे तो उसको न + अ + क = नाक अर्थात् जो निरंतर आनन्दघन होवे। कल उसी का दूसरा नाम दिया था 'विष्टपे'। ताप—संताप से सर्वथा रहित होवे। नाक से कह दिया परमानन्द की प्राप्ति को। ऐसे परमानन्द की प्राप्ति नाक है, स्वर्ग है—वहाँ परमात्मा विराजित होता है। सर्वभूतों को आत्मा में दर्शन कब तक करे? जब तक मोह निवृत्त न हो जाये। मोह निवृत्त होने पर नामरूप देखते हुये भी अर्थात् क्रान्तदर्शी बनकर सर्वत्र परमात्मा को देखे तब परमानन्द की प्राप्ति होती है।

●

प्रवचन-११

जो सर्वत्र कल बताये प्रकार से परमात्मा की भक्ति करता है वह ब्रह्मा के पास जाकर आनन्द का अनुभव करता है। सर्वत्र दर्शन करने के लिये पहले क्या करना आवश्यक है ?

'निपुणोऽणीयान् बिसोर्णाया यः सर्वमावृत्य तिष्ठति।
वर्षीयांश्च पृथिव्या ध्रुवः सर्वमारभ्य तिष्ठति।।१०।।'

'निपुणः' जो इस प्रकार मेधा के द्वारा वास्तविक चीज को समझने में कुशल है, निपुण है। इसलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं—'निपुणः सर्ववित्' जो सर्ववित् है। यद्यपि सर्वज्ञ और सर्ववित् का एक ही अर्थ लगता है परन्तु अतिधन्य वेद एक जगह दोनों का प्रयोग करता है—'यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः'। वहाँ उसके तात्पर्य का प्रतिपादन करते हुये कहा सामान्येन सब चीजों को जानना सर्वज्ञता और विशेष रूप से सब चीजों को जानना यह सर्ववित्ता। 'निपुणः सर्ववित्' जब तक परमात्मा को परोक्ष रूप से जानता है तब तक तो सामान्य ज्ञान है। परन्तु जैसा कल बतलाया था, प्रतिज्ञान में जब जानता है तब सर्ववित् है। सामवेद में इसीलिये कहा 'प्रतिबोधविदितम्' 'बोधं बोधं प्रतिबोधम्' प्रत्येक बोध में, प्रत्येक ज्ञान में उस परमात्मा को पहचानता है, प्रत्येक बोध में उसको देखता है, समझता है, जानता है, दृष्टि करता है। जो ऐसा करता है उसको ही यहाँ निपुण कहा है।

लोक में भी जो किसी कार्य को कुशलता से कर सकता है उसी को निपुण कहा जाता है। सामान्य रसोईया भी भोजन बनाता है और अत्यन्त स्वादिष्ट भोजन बनाने वाला रसोइया भी रसोई बनता है। रसोईये तो दोनों हैं परन्तु जो कुशलतापूर्वक बनाता है उसे निपुण पाचक कहा जाता है, निपुण सूद कहा जाता है, निपुण रसोइया कहा जाता है। रसोइये दोनों हैं। इसी प्रकार परमेश्वर के स्वरूप को समझना तो दोनों का है परन्तु जो निपुण होता है वह उसको प्रत्येक ज्ञान में समझता है। सोने के पासे को सोना तो सब समझते हैं परतु प्रत्येक गहने में सोने को समझना यह निपुणता है। इसी प्रकार जब हम परमात्मचिन्तन कर रहे हैं तब उसको परमात्मरूप

से समझना—यह तो सभी के लिये संभव है परन्तु निपुण वह है जो सब चीजों के अन्दर परमात्मा को एकरूप से समझता है।

इस निपुणता की प्राप्ति किसको होती है **'बिसोर्णाया यः अणीयान्'** वह परमात्मतत्त्व कैसा है ? जो कमल की नाभि होती है, कमल का दंडा, उसके अन्दर अत्यन्त बारीक धागे जैसा निकलता है, उसको बिसोर्णा कहते हैं। दंडे को बिस कहते हैं, बिस में होने वाला है इसलिये उसको बिसोर्णा कहते हैं। धागे की तरह है इसलिये अनेक जगह उसको बिसतन्तु भी कहते हैं। बिस तो वही हो गया जो कमल का दंडा है। अब उसको चाहे ऊन का धागा—ऊर्णा कहो चाहे धागा—तन्तु कहो अर्थात् वह अत्यन्त बारीक होता है। उससे भी—अणीयान्—वह बारीक है। इसलिये उसको देखने में निपुण होना जरूरी है। भगवान् विष्णु की नाभि से क्या निकला था ? कमल निकला था। उस कमल में ही ब्रह्मा जी उत्पन्न हुये। सचमुच में तो वही कमल का दंडा है जिससे सारी सृष्टि को करने वाला ब्रह्मा उत्पन्न हुआ। अपने शरीर के अन्दर भी कभी अपने भेजे को देखो तो उसमें से शरीर के प्रत्येक अंग के अन्दर नसें गई हैं, nerves गई हैं, स्नायु गये हैं।

इसलिये अन्यत्र वेद ने इसको उल्टा वृक्ष कहा है—'ऊर्ध्वमूलः अवाक्शाखः एषोऽश्वत्थः सनातनः'। वेद कहता है ऊर्ध्वमूल—ऊपर की तरफ तो यह जड़ की तरह है और—'अवाक्शाखः' नीचे की तरफ यह शाखाओं के समान फैला हुआ है। सिर ऊपर हुआ और बाकी सब नीचे हुये। वेद एक विचित्र बात साथमें कहता है कि यह वृक्ष कैसा है? 'अश्वत्थः सनातनः' यह सनातन वृक्ष है। वेद कुछ भी बोल देता है ! साधारण लोगों को लगता है सब ऊट पटांग लिखा है। लिखा भी ऊट पटांग है इसमें कोई संदेह नहीं। यह कैसा वृक्ष है ? कहा सनातन वृक्ष है, हमेशा रहने वाला है। फिर उसी को कह दिया—अश्वत्थः, *श्व* कहते हैं आने वाले कल को। संस्कृत में बीते कल को *ह्यः* कहते हैं और आने वाले कल को *श्वः* कहते हैं। हिन्दी में तो दोनों ही *कल* हो जाते हैं। श्व हुआ भावी कल, आनेवाला कल। आनेवाले कल तक जो चीज स्थित रहे वह हुई श्वत्थ 'श्वः तिष्ठति'। और जो कल तक न रहे वह हुई अश्वत्थ। यह वृक्ष कैसा है ? कल तक नहीं रहने वाला, कौन ? जो हमेशा रहता है। किसी ने कहा 'होगा कोई ऐसा वृक्ष। हमें तो सब नीचे मूल वाले दीखते

हैं। कोई अजीबोगरीब चीज होगी। नहीं समझ में आता है यह *सनातन अश्वत्थ।* तो वेद उतने में भी चैन नहीं लेने देता, वेद जो ठहरा ! कहता है—'एषः' जो तुम्हें दीख रहा है। कोई अजीबोगरीब चीज नहीं समझ लेना जिसका समाधि लगाओगे तो पता लगेगा ! 'एषः' जो तुम्हें दीख रहा है। जो तुम्हें दीख रहा है यह अश्वत्थ है और सनातन है। अब इस बात को बिना निपुण हुये कैसा समझा जाये ? इसलिये कहा कि अतिसूक्ष्म है। जितना हमारा चिन्तन है उसका स्थल क्या है ? जितनी हमारी स्मृतियाँ रहती हैं, कहाँ रहती हैं ? दिमाग में रहती हैं। वहीं से शरीर के सारे अंग-प्रत्यंगों को, इन्द्रियों के गोलकों की नसों को आज्ञा देकर कार्यों में लगाया जाता है। आँख देखेगी कब ? जब मन जो दिमाग में रह रहा है वह स्नायु के द्वारा आँख को देखने में प्रवृत्त करेगा तब आँख बाहर जाकर देखेगी। इसी प्रकार शरीर की प्रत्येक चीज का नियंत्रण करने वाला जो मूल है वह तो ऊपर है और सारी चीजें, उसकी जो शाखाएँ हैं वे नीचे हैं। व्यापक जो विष्णु है उसीकी नाभि से यह कमल की दंडी निकली है। सारे शरीर के अन्दर यह स्नायुमंडल गया हुआ है। प्रत्येक बोध जो इसका होता है वह तो क्षणिक है इसलिये अश्वत्थ है। हर क्षण में तुम्हें कुछ न कुछ ज्ञान होता है इसलिये जो ज्ञान होता है वह तो क्षणिक है पर क्षणिक ज्ञान होते हुये भी ज्ञान स्वतः सनातन है।

जो तुम्हें इस संसार में सर्वत्र ज्ञान हो रहा है वह सारा का सारा ज्ञान कैसा है ?

'स इन्द्रियैर्जगतोऽस्य ज्ञाना-

दन्योऽनन्यस्य ज्ञेयात्परमेष्ठी विभाजः।

तस्मात्कायाः प्रभवन्ति सर्वे

स मूलं शाश्वतिकः स नित्यः।।१०।।'

'सः' वह जो बिसतन्तु बिसोर्णा से भी सूक्ष्म है उसकी सूक्ष्मता क्या है ? तो **'इन्द्रियैः अस्य जगतः ज्ञानादन्यः'** इन्द्रियों के द्वारा इस सारे संसार का, घटपटादि का जो ज्ञान होता है उससे वह भिन्न प्रकार का ज्ञान है। इन्द्रियों से जो ज्ञान हो रहा है, बोध हो रहा है वह तो क्षणिक हो रहा है। हर क्षण में तुमने घड़े को जाना, फिर कपड़े को जाना, फिर लड्डू को

जाना, फिर पेड़े को जाना—वह तो हर क्षण में बदल रहा है। इन्द्रियों से जो जगत् का ज्ञान हो रहा है वह प्रतिक्षण हो रहा है। वह बदल रहा है। परन्तु उससे जो अन्य है, भिन्न है नित्य ज्ञान है 'प्रतिबोधविदितं मतम्', उसीको कहते हैं कि वह विष्णु से निकली हुई कमलनाभ है और वही ब्रह्मा है अर्थात् वही सारे विराट् जगत् को विषय करता है। वह बाहर जाता है तब जगत् बनता है। जब तक तुम इन्द्रियों तक नहीं पहुँचते तब तक तुम्हारे सामने रूप-रस-गंध-शब्द-स्पर्श नहीं है। रूप-रस-गंध-शब्द-स्पर्श तुम्हारी इन्द्रियों से संबंधित होकर वह परमात्मतत्त्व प्रतीत होता है।

दूसरी दृष्टि से ज़रा विचार करो : तुम्हें जहाँ रस्सी में साँप दीखता हैं, वह साँप किस समय होता है ? जब तक तुम्हें दीखता है। तुम्हारे देखने के पहले वहाँ साँप नहीं है। तुम्हारे देखने के बाद वहाँ साँप नहीं है। वहाँ है क्या ? रस्सी है। तुम्हारे देखने से पहले भी रस्सी है। तुम जब नहीं देख रहे हो तब भी रस्सी है और जब तुम्हें साँप दीख रहा है तब भी वहाँ रस्सी है ही, कहीं नहीं गई। ठीक इसी प्रकार वह ज्ञानस्वरूप परमात्मा नित्य एक जैसा ही है। जब तुम्हें जगत् के घटपटादि पदार्थ दीख रहे हैं तब भी है। जब तुम्हें घटपटादि नहीं दीख रहे हैं तब भी है। जब तुम्हें घटपटादि दीखना बंद हो जायेगा तब भी है—वहाँ तो केवल ब्रह्ममात्र है। जैसे सर्प है जब तक तुम्हें दीखता है। आगे-पीछे तो रस्सी ही है और जब तुम देख रहे हो तब भी रस्सी ही है। उसी प्रकार जिस समय तुम इस जगत् को देखते हो उस समय भी ब्रह्म तो रहता ही है, लेकिन उस समय तुम्हें जगत् दीख रहा है और जब आगे-पीछे तुम्हें जगत् नहीं दीख रहा है तब वहाँ ब्रह्म है। फर्क इतना है कि आगे-पीछे रस्सी है यह बात तो किसी तरह से तुम समझ लेते हो परन्तु जब तुम देख रहे हो तब कहते हो, 'नहीं जी, कुछ तो है वहाँ।'

अत्रि महर्षि के दो शिष्य थे—भास और विलास। दोनों आपस में घनिष्ठ मित्र थे। हमेशा साथ रहते थे। कालांतर में उन्हें तीर्थ-यात्रा पर जाने की इच्छा हुई। तीर्थ-यात्रा में गये। भास के इष्ट तो थे भगवान् शंकर और विलास के इष्ट थे भगवान् विष्णु। एक कहे बदरीनाथ चलो तो दूसरा कहे केदारनाथ चलो। विलास कहे तिरुपति चलो और भास कहे कालहस्तीश्वर चलो। सब जगह मंदिर साथ ही साथ हैं। थोड़े दिनों के बाद उन्होंने कहा

कि 'तीर्थ यात्रा आगे से अलग-अलग करेंगे।' तो वे दोनों अलग-अलग तीर्थों में चल दिये। अलग-अलग तीर्थों में चले तो भिन्न भिन्न जगह भगवान् विष्णु के अत्यन्त ऐश्वर्य वाले दर्शन किये विलास ने। चलते चलते वह अनंतपुर पहुँचा जिसको आजकल तिरुअनन्तपुरम् या अंग्रेजी वाले त्रिवेन्द्रम् कहते हैं। वहाँ भगवान् की शेषशायी मूर्ति है। वह मूर्ति इतनी बड़ी है कि तीन दरवाजों से दर्शन होते हैं और किसी भी दरवाजे से पूरा दर्शन होता नहीं ! पीछे से एक दरवाजा है जहाँ से सारे दर्शन इकट्ठे होते हैं, सारी मूर्ति का दर्शन होता है परन्तु वह केवल राजा के लिये खुलता है। ट्रावनकोर महाराजा आते हैं तब वह दरवाजा खुलता है, बाकी किसी के लिये खुलता नहीं है।

विलास ने जब यह बात देखी तो उसके मन में आया कि 'अरे, अगर मैं यहाँ का राजा होता तो कितना अच्छा होता। राजा होता तो पूरी मूर्ति के दर्शन हो जाते।' तपस्वी तो था ही। समाधि लगाई और समाधि लगाते समय उसका यही संकल्प रहा, 'मैं राजा होता तो बड़ा अच्छा था।' इस संसार में चित्त की जितनी शुद्धि होती है उतने ही मनुष्य के संकल्प सत्य हो जाते हैं। विलास अपने शरीर को छोड़कर अनन्तपुर के महाराजा के यहाँ पुत्र होकर उत्पन्न हो गया। कालांतर में राजा बन गया। बड़े प्रेम से भगवान् का दर्शन करता रहा। परन्तु साथ में राजा भी तो था ही। अतः चक्रवर्ती के पास उसको समय-समय पर जाना पड़ता था। तो उसके मन में आया कि 'यदि मैं चक्रवर्ती राजा होता तो मुझे अनन्तपुर छोड़कर इस प्रकार जाना नहीं पड़ता।' राजा भी बना तो उसके चित्त की शक्ति थी ही। चित्त तो वही जाता है।

उसी समय वह चक्रवर्ती राजा बन कर उत्पन्न हो गया। परन्तु व्यवधान पड़ता गया। पहले जैसे समाधि के अन्दर निरन्तर रहता था वैसा राजा होकर नहीं रह पा रहा था। अब चक्रवर्ती राजा हो गया तो अनेक दूसरी चिन्तायें भी उसको ग्रस्त करने लग गयीं। उनसे परेशान रहता था। उस परेशानी को दूर करने के लिये वह सुंदर नृत्य इत्यादि देखा करता था। एक अत्यन्त सुंदरी थी और वह नृत्य भी बड़ा सुंदर करती थी। उसको देखते देखते उसके मन में यह रहा कि, 'मैं भी ऐसा नृत्य करने वाली होती तो कितना अच्छा होता ! कोई चक्रवर्ती राज्य की चिन्ता नहीं करनी पड़ती।'

तो वह अप्सरा बन कर देवताओं के यहाँ उत्पन्न हुई।

इधर जो उसका साथी, मित्र भास था वह भगवान् शंकर के मंदिरों के दर्शन करता हुआ जा रहा था, तो दर्शन करते हुए वह कैलास पहुँचा। वहाँ की परम शांति को देखकर उसके मन में हुआ कि, 'मेरी भी समाधि ऐसी परम शान्त अवस्था वाली हो जाती तो बड़ा अच्छा था।' हिमालय के अन्दर वहीं कैलास के पास वह उत्पन्न हो गया। समाधि का अभ्यास उसका भी दृढ था। वहाँ रहकर शांति का अभ्यास करते करते जब उसका समाप्ति का समय आया तो वह वहाँ से देवदूतों के द्वारा इन्द्र के दरबार में ले जाया गया। इन्द्र ने बड़ा स्वागत करके उसे बैठाया। उसने वहाँ उस अप्सरा को नृत्य करते देखा। उसे लगा कि यह तो कोई पहचाना-सा व्यक्ति लगता है। अप्सरा ने भी उसे देखा और उसकी तरफ आकृष्ट हुई। पहले तो इसके मन में हुआ कि, 'अरे देवलोक में आकर क्या मेरा मन नीच जाति की तरफ जा रहा है।' भास ने अपने चित्त को समाहित किया। चित्त समाहित करते ही उसे पता लग गया कि वह कोई स्त्री नहीं, उसीका मित्र है। उसने सोचा, 'मेरा मन इसकी तरफ इसलिये ही आकृष्ट हुआ।' जैसे ही इन्द्र का दरबार समाप्त हुआ, वहाँ से उठकर जाने लगे तो भास उस देवांगना के पास गया। अप्सरा ने बड़े प्रेम से कहा, 'आप को देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई।' उसने कहा, 'प्रसन्नता तो मुझे भी हुई परन्तु तुमने मुझे पहचाना ?' देवांगना कहने लगी, 'बाकी सब देवताओं को तो पहचानती हूँ, तुझे नहीं पहचानती।' जप करने जब वह बैठी तो उसने कहा, 'चित्त एकाग्र कर मुझे देख।' जैसे ही उसने चित्त को समाहित करके देखा उसने कहा, 'अरे यह तो मेरा मित्र भास है !' दोनों आपस में बड़े प्रेम से गले मिले। भास ने पूछा, 'अरे तू यहाँ कैसे पहुँच गया !' विलास ने अपने सारे अनुभव बतलाये कि किस तरह वह राजा, फिर चक्रवर्ती राजा और फिर अप्सरा बना। जैसा जैसा संकल्प होता गया वैसा वैसा जीवन-निर्माण होता चला गया। 'तुम यहाँ कैसे पहुँचे ?' विलास ने पूछा। भास ने भी बतलाया कि 'घूमते घूमते कैलास पहुँचा। वहाँ उत्पन्न हुआ और फिर वहाँ से यहाँ आ गया।'

दोनों विचार करने लगे। दोनों घनिष्ठ मित्र थे; एक ने संसार के जितने भी भोग थे, विषय थे उनके अनुभवों का निरूपण करते हुये कहा कि,

'यह सब चित्तानुसार ही होते हैं।' भास ने ठीक उससे विपरीत निवृत्त होकर पदार्थों के स्वरूप का वैराग्य आदि के द्वारा अनुभव किया था। उन सबके अनुभवों का प्रकार बतलाते हुये कहा कि, 'ये भी चित्त के संकल्पमात्र ही हैं।' जैसे रसगुल्ले को खाने का सुख संकल्प से भिन्न नहीं वैसे ही 'मैं रसगुल्ले के स्वाद को जीत चुका हूँ इसलिये रसगुल्ला मुझे प्रभावित नहीं करता' यह भी चित्त का ही स्वरूप है ! इसलिये न संसार के पदार्थ उस आत्मतत्त्व को दे पाते हैं और न उनका अभाव उसे दे पाता है। दोनों का यह अनुभव हुआ। परम शांति, परमानंद की प्राप्ति दुःख की आत्यंतिक निवृत्ति न पदार्थों से है, न उनके अभाव से है।

दोनों वहाँ से चलकर अत्रि महर्षि के आश्रम में पहुँचे। अत्रि महर्षि ने प्रसन्न होकर दोनों का स्वागत किया और कहा, 'बड़े लम्बे समय के बाद आये। एक आदमी बन गया, एक औरत बन गया !' उन्होंने महर्षि को अपना अपना अनुभव कह सुनाया। अत्रि महर्षि ने कहा, 'विषय हो या विषय का अभाव हो, दोनों के रहते चित्त में विकार आता है।

'चित्तं चिच्च विजानीयात् तकाररहितं यदा।
तकारो विषयाध्यासो जपारागो मणौ यथा।।'

जिस प्रकार स्फटिक मणि के सामने जपा कुसुम को जब तुम रखो तो मणि लाल दीखती है। जिसने पहले स्फटिक को वास्तविक रूप में नहीं देखा वह उसको देखकर यह निश्चय करता है कि यह लाल मणि है। पहली बार देखा, लाल दीखती है तो लाल मणि है। अब कोई उससे कहता है 'यह लाल हो गई है, है तो यह सफेद।' कपड़ा लेता है, उसको पोंछता है, साफ करता है। सब करके अंत में कहता है 'यह तो लाल ही है। आप हमें धोखा दे रहे हो। कुछ भी उसके रंग में हल्का तो हुआ नहीं। यह तो लाल मणि ही है।' अब बुद्धिमान् क्या करता है ? जपा कुसुम को वहाँ से हटा देता है। वह कहता है, 'देखो मेरा जादू। मैं इस मणि को हाथ नहीं लगाता हूँ और साफ कर देता हूँ।' और वह वहाँ से फूल को हटा देता है। फूल को हटाते ही मणि शुद्ध सफेद हो जाती है। तब उसको क्या निश्चय होता है ? कि 'जपा कुसुम के कारण लाली प्रतीत हो रही थी क्योंकि मुझे इस मणि का अज्ञान था'। जो उस मणि को जानने वाला था वह जब लाल दीख रही थी तब भी उसको सफेद जान रहा था क्योंकि

उसे तो पता था कि यह सफेद है। परन्तु जिसको नहीं पता वह तो उसको लाल ही समझ रहा है। जब तक लाल समझेगा तब तक मेहनत करेगा कि इसे किसी न किसी तरह से साफ किया जाये। और साफ करने के सारे तरीकों से वह साफ होती नहीं। कोई तरीका नहीं है कि तुम उस स्फटिक मणि को सफेद कर दो। जब तुम्हारा जपाराग के कारण होने वाला अध्यास मिट जायेगा तब वह साफ है। इसी प्रकार अत्रि महर्षि ने कहा कि भास को अनुभव हुये संसार के पदार्थों के हटने पर--माँज रहा था, साफ कर रहा था। और जो कुछ अनुभव हुआ विलास को वह हुआ संसार के पदार्थों के लगाने से। दोनों ही 'तकारो विषयाध्यासः'। उस चित् परमात्मा के अन्दर न विषयों की स्थिति है और न उन विषयों के हटने की स्थिति है क्योंकि कोई संबंध ही नहीं है। इस प्रकार से जब तुम अपने अज्ञान को हटाकर उस ज्ञानस्वरूप को जैसा है वैसा समझ लेते हो तभी सारे नामरूपों को देखकर भी तुम जानते हो कि यह तो चिन्मात्र है।

चाहे रस्सी साँप में समझ लो कि तुम्हारे देखने से पहले, बाद में और उस समय भी रस्सी है, चाहे यहाँ समझ लो कि स्फटिक मणि तुम्हें जब नहीं दीख रही थी तब सफेद थी, तुमने आँख हटाई तब सफेद है; लाल कब तक है ? जब तक तुम्हें दीख रही है, उसके आगे पीछे कुछ नहीं। और उस समय में भी सफेद है, लाल नहीं है।

यह निपुणता है, समझना है। इसीलिये अतिधन्य वेद ने कहा--'एषोऽश्वत्थः सनातनः'। प्रत्येक क्षण में बदलने वाला ज्ञान कैसे होता है? वस्तुतः वह जो नित्य ज्ञान है वह विषयों के अध्यास के कारण उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है।

'यः सर्वमावृत्य तिष्ठति' इस प्रकार वह जो अश्वत्थ सनातन है, जो विष्णु भगवान् के कमलनाभ से उत्पन्न हुआ ब्रह्मा का सारा स्वरूप है, वह सारा का सारा 'सर्वमावृत्य तिष्ठति'। है तो वह इतना सूक्ष्म--नाभि से निकला है--परन्तु उसी कमल से उत्पन्न हुआ विराट् पुरुष यह अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड है। सारा का सारा विराट् पुरुष इतने सूक्ष्म से निकला हुआ है। यद्यपि वह कमलनाल में इतना सूक्ष्म है तथापि सबसे व्यापक है।

ठीक इसी प्रकार अपने सहस्रार से निकला हुआ मेरु दंड है; मेरु दंड से निकली हुई जो अत्यन्त सूक्ष्म नाडी है बिसतन्तु की तरह, सुषुम्ना, उस

सुषुम्ना के सामर्थ्य से ही सारे जगत् की प्रतीति है। प्रतिक्षण एक विन्दु का क्षरण होता है सहस्रार से और वह इस सुषुम्ना के मार्ग से आता है। उसके आने से ही हमारा जीवन चलता है। इसीको कहते हैं कि प्रतिक्षण जो श्वास के द्वारा 'सोहं हंसः' हो रहा है वही हमारा जीवन है। ऊपर से निरन्तर अमृत का क्षरण हो रहा है और उसी मार्ग से हो रहा है। वह जब तक होता रहेगा तब तक यह सारा विराट् पुरुष है, सारा संसार है—बेटा है, पोता है, बहन है, भाई है। कब तक है ? जब तक यह क्षरण हो रहा है। जैसे ही यह क्षरण होना बंद हुआ, न बाप रह जायेगा, न बेटा रह जायेगा, न पोता, न पत्नी रह जायेगी—कुछ नहीं रह जायेगा। उनके लिये तुम मुर्दा रह जाओगे। तुम उनके संबंधों से रहित होकर फिर जहाँ पैदा होगे पुनः अपने इस ब्रह्माण्ड को उत्पन्न कर लोगे, फिर संसार को उत्पन्न कर लोगे। फिर वहाँ ब्रह्मा पैदा हो जायेगा। जहाँ जाओगे फिर वहाँ सारे के सारे—पत्नी, पुत्र, पौत्र पैदा हो जायेंगे। जो यहाँ रह गये उनके लिये भी तुम नहीं रहे क्योंकि तुम तो अब मुर्दा हो गये और तुम जहाँ चले गये वहाँ फिर अपना ब्रह्माण्ड पैदा कर लोगे। इसलिये कहा—यह तो नष्ट होता चला जा रहा है लेकिन सनातन जो प्रवाह है यह वैसा का वैसा बना हुआ है।

इस प्रकार सबको आवृत करके, सबको ढाँक कर जो रहता है वह **'वर्षीयांश्च पृथिव्याः'**—वह पृथ्वी से भी बहुत पुराना है। यह जीव तो कभी पैदा होने वाला है नहीं। इसीलिये हमेशा एक जैसा रहता हुआ **'सर्वमारभ्य तिष्ठति'** सब चीजों को आरंभ करता है, उनको स्थित रखता है। उसके कारण ही स्थिति रहती है और अन्त में उसीमें लीन हो जाती है।

'तस्मात्कायाः सर्वे प्रभवन्ति' उसी से सारे शरीर हैं। एक के बाद एक शरीर पैदा हो रहे हैं। किससे पैदा हो रहे हैं ? उसी विष्णु की नाभि से पैदा हो रहे हैं। जो तुम्हारा अंतःकरण काम कर रहा है, तुम्हारा अहम्, तुम्हारा जीवभाव, वह तो वैसा का वैसा है; बस शरीर उत्पन्न होते चले जाते हैं। **'स शाश्वतिकः'** वह हमेशा रहने वाला है **'स नित्यः'** वह नित्य है। वही मूल है। अब वह जो मूल है उसके साथ संबंध किस प्रकार से होता है यह आगे बतलायेंगे।

●

प्रवचन-१२

यह बतला रहे थे कि यद्यपि आत्मा अत्यन्त अणु है, कमल के अन्दर होने वाली तन्तु से भी सूक्ष्म है, इतना सूक्ष्म होते हुये भी वह सबको व्याप्त करके रहता है। वह ज्ञान जन्य-ज्ञान से भिन्न है। जन्य ज्ञान भी ज्ञान तो है परन्तु वह अश्वत्थ है और वह जो दूसरा ज्ञान है वह अव्यय है, सनातन है। इस भेद को समझाने के लिये यह कहा कि कैसे उससे ही सारे काय उत्पन्न होते हैं। ब्रह्मा से लेकर घास के तिनके तक सब कुछ उससे उत्पन्न होता है 'तस्मात्कायाः प्रभवन्ति सर्वे'। कैसे उत्पन्न होते हैं ? इसकी प्रक्रिया को कल संक्षेप में बतलाया था। जब तक उसको नहीं समझते और उसे समझने पर मूलगत भेद क्या है ? जब तक हम नहीं समझते तब तक हमें लगता है कि बाह्य जगत् हमारे ऊपर प्रभाव डालता है। जब हम अपने स्वरूप का विचार करते हैं तब पता लगता है कि हमारे ऊपर कोई प्रभाव पड़ नहीं सकता क्योंकि हम असंग हैं। हम अध्यास के द्वारा पहले संग वाला जब अपने को मानते हैं तब प्रभाव पड़ता है।

जो चीज जहाँ नहीं है वहाँ उसकी प्रतीति—यह अध्यास है। हैं तो हम असंग परन्तु मूलाज्ञान के कारण हम अपने को संगवाला मानते हैं। जब हमने अपने को संगवाला माना तब जिससे संगवाला माना उसका प्रभाव पड़ता है। अतः चेतन अज्ञान के द्वारा संगवाला बनकर जीवभाव को प्राप्त होता है। अभी हम समझते हैं कि माया या अज्ञान हमें जीव बनाता है। माया हमें कुछ नहीं बना सकती। वह तो जड है। हम अपने को अज्ञान से जीवभाव वाला समझते हैं। बना तो सकते नहीं, क्योंकि वह तो असंभव है। हमारी ब्रह्मस्वरूपता कहीं जा नहीं सकती।

वशिष्ठ जी श्रीराम को समझाते हुये कहते हैं—एक गाधि नाम के महर्षि थे। वे एकान्त में तप कर रहे थे भगवान् विष्णु की प्रसन्नता के लिये। दीर्घकाल तक तप किया। भगवान् विष्णु प्रसन्न हो गये। भगवान् विष्णु ने प्रकट होकर उनसे पूछा, 'कुछ वरदान माँगो ?' उन्होंने कहा, 'मैं जीवभाव को कैसे प्राप्त हुआ हूँ ?' विष्णु भगवान् ने कहा, 'समय आने पर समझा दूँगा।' कई चीजें ऐसी होती हैं कि जब तक अनुभव में उतरें नहीं तब तक

समझ में आती नहीं। कितना भी शब्दों से कहने का प्रयास करो वह चीज समझ में नहीं आती जब तक उसका अनुभव न होवे। कुछ समय बाद गाधि महर्षि प्रातःकाल उठकर स्नान करने के लिये गये हुये थे। वे जल में स्नान करते समय अघमर्षण मंत्र का जप करने लगे। ऋग्वेद के अन्दर अघमर्षण मंत्र है। अघ पापों को कहते हैं। मर्षण नष्ट करने को कहते हैं। तो समग्र पापों को नष्ट करने के लिये जल के अन्दर गोता लगाकर उस मंत्र का जप किया जाता है। जप करते हुये उनको लगा, 'मैं मर गया।' साँस तो बंद करनी ही पड़ती है डुबकी लगाते हुए, इसलिये उनको लगा कि वे मर गये। मर कर किरात देश के अन्दर एक चाण्डाली के गर्भ में चला गया। वहाँ पैदा हो गया। पैदा होकर बड़ा हृष्ट पुष्ट चाण्डाल हुआ। विवाह हो गया किसी चाण्डाली के साथ। कई वर्ष बीत गये। एक बार बड़ा भारी अकाल पड़ा। उस भारी अकाल के अन्दर कहीं भी भोजन नहीं मिलने के कारण घर के सारे लोग मर गये। सारा का सारा गांव नष्ट हो गया। जो बच गये—जवान थे, हृष्ट पुष्ट थे—वे गाँव को छोड़कर, जहाँ कहीं भोजन मिले, चल पड़े। कोई किसी दिशा में कोई किसी दिशा में।

जाते हुये गाधि एक ऐसी जगह पहुँचा जहाँ एक हाथी ने आकर उसको माला पहना दी। पीछे से लोग आये। उन्होंने कहा, 'आप हमारे राजा हो गये।' वह बोला, 'मैं कैसे राजा हो गया ?' लोग बोले, 'अपने अपने राज्य का तरीका होता है। कहीं राजा का बेटा राजा होता है, कहीं माँ के पेट से जन्म लेता है, कहीं लकड़ी की पेटी से जन्म लेता है ! जैसे भरत देश में लकड़ी की पेटी में जिसका नाम डाला वह राजा हो गया। हमारे देश में यह नियम है कि राजा के मरने पर हाथी जिसको माला पहना देवे वह राजा हो गया। इसलिये आप राजा हो गये।' उसने कहा, 'राजा हो गया तो पहले मुझे भोजन कराओ।' बेचारा भूखा था। महल में ले जाकर स्नानादि कराया, भोजन कराया। अब वह वहाँ बड़े सुख से रहने लगा। सब तरह का आराम था। वहाँ रहते हुए आठ वर्ष व्यतीत हो गये। आठ बरस के बाद वह हाथी पर किसी बड़े भारी जुलूस में जा रहा था। जो उसके गाँव के दूसरे चाण्डाल निकले हुये थे उनको भी घूमते हुए कहीं भोजन पानी मिल गया, कहीं काम करते रहे। वे लोग भी उधर से निकले। तो उन्होंने पहचान लिया, 'यह तो अपना चमरू है।' जोर से चिल्लाये और उसकी

तरफ बढ़ने लगे। सिपाहियों ने रोका। उन्होंने कहा, 'हमें उससे मिलने से कैसे रोक सकते हो ? वह तो हमारा भाई बंधु है।' झट वहाँ पहुँच गये। अब सब लोगों को पता लग गया और वे कहने लगे, 'गजब हो गया। हम इस चाण्डाल के राज्य में रह रहे थे ! इसी का अन्न हम लोगों ने खाया। स्पर्शास्पश सब हो गया।' सबने मिलकर निश्चय किया कि, 'हम तो बड़े भ्रष्ट हो गये।' आजकल के जमाने के लोग तो कभी भ्रष्ट होते ही नहीं हैं ! किसी के हाथ का खाओ तो कोई भ्रष्ट नहीं होता। किसी का अन्न खाओ तो भी कोई भ्रष्ट नहीं होता। अब लोग हल्ला मचाते हैं कि भ्रष्टाचार हो गया। तो भाई भ्रष्टाचार को तुम लोगों ने अच्छा शिष्टाचार बना रखा है। जितने भ्रष्ट कार्य हैं उनको तुमने शिष्टता का आचार मान रखा है। भ्रष्ट तो अब वे लोग हो गये जो यह सब नहीं करते। बड़ा दुःख हुआ उन लोगों को और उन्होंने निश्चय किया, 'अब हम प्रायश्चित्त करने के लिये, गाँव के जितने लोग इनके संपर्क में आये, जल मरेंगे। हम लोगों ने सवर्ण होकर इन के साथ व्यवहार कर लिया।' बड़ी भारी अग्नि की वेदी बनाई और वे सब स्त्री-पुरुष-बच्चे सारे के सारे उसमें कूदने लगे। यह प्रायश्चित्त है। मरणांत प्रायश्चित्त को हमारे यहाँ बहुत बड़ा प्रायश्चित्त माना गया है। 'मेरे कारण इतने लोग मर गये।'—इससे गाधि को दुःख हुआ। वह भी उसमें कूद गया और जल गया।

अकस्मात् देखता है 'दिवं च पृथिवीं चैव' बोल रहा है ! अघमर्षण मंत्र का उच्चारण कर रहा है। झटका-सा लगा। ऊपर उठकर देखा तो कपड़े वहीं पड़े हुये थे जहाँ छोड़कर गया था। वहाँ से आश्रम में गया तो आश्रम में भी वैसी ही स्थिति थी। उसने कहा, 'देखो कैसी मेरी सपने की कल्पना हो गयी। क्या क्या देख लिया।' कुछ दिन बीत गये। कोई अतिथि आया। आश्रम में ठहरा। आपस में बातचीत होने लगी। गाधि ने उससे पूछा, 'अरे भाई ! इतनी तीर्थयात्रा करके आये हो। कहीं का कोई नया समाचार हो तो सुनाओ। कोई विशिष्ट बात हो तो सुनाओ।' उसने कहा, 'मैं संसार में बहुत जगह घूमा हूँ। पर एक जगह ऐसी रोमांचकारी घटना हुई है जो हमने और कभी कहीं नहीं देखी।' गाधि ने उस घटना के बारे में पूछा। उन्होंने कहा, 'मैं अमुक राज्य में गया हुआ था। मैं वहाँ था तब एक राजा की सवारी निकली। उस सवारी में कुछ चाण्डालों ने आकर

कहा 'यह तो हमारा रिश्तेदार है' और वह बात सिद्ध भी हो गयी। तो जितने गांव के लोग थे सब आग में गिरकर जल गये। वह देखकर मेरा मन भी रोने लगा। मेरा कोई संबंध नहीं था फिर भी मुझसे वह दुःख बर्दाश्त नहीं हुआ। उसको देखने से ही मुझे इतना कष्ट हुआ कि मैं त्रिवेणी में गया, प्रयाग गया और वहाँ जाकर मैंने स्नान किया। जो मरे थे उनके बारे सोच कर उनका तर्पण किया क्योंकि वहाँ तो सभी मर गये थे। और वहाँ से सीधा मैं इधर आ रहा हूँ।'

यह सुनकर गाधि को तो रोमांच हो गया क्योंकि यह तो उसीने देखा था। उसने कहा, 'हमें उस राज्य में ले चलो।' बोले, 'हाँ ले चलूँगा पर बड़ा भयंकर वहाँ का दृश्य है यह मैं पहले कह देता हूँ।' गाधि फिर भी उसके साथ गये ओर देखा। उसीका देखा हुआ वह राज्य, महल और सारी चीजें। वहाँ घूमते हुये उसको वह चाण्डाल भी मिल गया। उसको लेकर वह किरात देश गया। वहाँ पर भी सब चीजें वैसी की वैसी। अब गाधि को निश्चय हो गया कि 'जो मैंने देखा था और जो यह बाह्य जगत् है दोनों एक हैं।'

वापस आकर फिर भगवान् के निमित्त से तपस्या आरंभ की। तब भगवान् विष्णु आये और उनसे पूछा 'यह क्या था ?' तो भगवान् बोले, 'तुमने कहा था—मैं जीवभाव को प्राप्त कैसे हो गया ? जैसे तू ब्राह्मण रहते हुये ही चाण्डाल बन गया और चाण्डाल रहते हुये ही राजा बन गया एवं राजा रहते हुये तू फिर गाधि बन गया। रहा तो तू गाधि ही।' उसने कहा, 'महाराज, मन से तो मैंने सोचा पर बाहर कैसे हो गया ?' उन्होंने कहा, 'जो मन में होता है, वही बाहर होता है।' भगवान् भाष्यकार सर्वज्ञ शंकर कहते हैं कि जैसा जैसा मन के अंदर भाव होता है वैसे ही बाह्य पदार्थ होते हैं। जैसे कल बतलाया था—रस्सी में दीखने वाला साँप तुम्हारे मन में संस्कार रूप से विद्यमान था। दूसरे को यदि जलधारा का संस्कार उद्बुद्ध हो गया, तीसरे को दंडे का संस्कार उद्बुद्ध हो गया तो तदनुकूल ही वहाँ चीजें दीखती हैं। भगवान् ने कहा, 'इसी प्रकार तू ब्रह्मभाव में स्थित हुआ ही अज्ञान के कारण अज्ञान में होने वाले संस्कारों को देखकर यह सारा ब्रह्माण्ड देख रहा है।'

फिर भगवान् विष्णु ने उसको समझाया कि ज्ञान की प्रक्रिया क्या है।

वस्तुतः तो ज्ञान है अनन्त, सर्वव्यापक सारे देश काल वस्तुओं से अतीत। वह ज्ञान तो सर्वत्र एक जैसा है। उसके ऊपर अज्ञान का आवरण पड़ा हुआ है। आजकल आकर लोग कहते हैं, 'इतना कोहरा था, एक फुट आगे की चीज नहीं दीख रही थी।' यहाँ तो एक फुट आगे नहीं दीख रही लेकिन ऋग्वेद कहता है 'नीहारेण प्रावृताः' नीहार कहते हैं कोहरे को—कोहरे सेयह ब्रह्म ऐसा ढँका हुआ है कि अपने आपको ही नहीं देख पाता ! यहाँ तो कम से कम एक फुट आगे की चीज ही नहीं दीखती परन्तु वहाँ अपने आपको ही नहीं देखता है ! यह ही नहीं पता चलता कि मैं कौन हूँ। इस प्रकार यह जो अनन्त ज्ञान है इस पर अज्ञान का कोहरा पड़ा हुआ है। उस कोहरे के अन्दर एक जगह पर उस अज्ञान से उत्पन्न जो अंतःकरण, उस अंतःकरण की अहंकारात्मिका वृत्ति का स्पन्दन होता है। अज्ञान की जो यह अहंकारात्मिका वृत्ति है उस से वहाँ ढका हुआ जो ज्ञान बस उतना ज्ञान वहाँ प्रकट हो गया। जिस प्रकार गहरे अंधकार के अन्दर तुम्हारे पास छोटी सी शलाका है, माचिस है या अलाती है, टॉर्च है; उसको तुम जलाते हो। जलाने पर जितनी जगह उसका प्रकाश है बस उतनी ही जगह को वह प्रकाशित करता है, उतनी ही जगह का अंधकार तो नष्ट हो गया बाकी घोर अंधकार वैसा का वैसा ही है। इसी प्रकार अज्ञान के, मूल अज्ञान के एक छोटे से हिस्से के अन्दर अंतःकरण के परिणामरूप से एक अहंकारात्मिका वृत्ति हुई, बस वही प्रकाशित हुई 'मैं हूँ'। उतनी ही वृत्ति प्रकाशित हुई। जिस अंतःकरण की वह वृत्ति प्रकाशित हुई उस अंतःकरण में बैठे हुये मन, बुद्धि, चित्त प्रकाशित हुये। उससे वहीं रहने वाली इन्द्रियाँ—ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ प्रकाशित हो गईं। हैं वे सारे के सारे अज्ञान के ही कार्य। जब इन्द्रिय प्रकाशित हुई तो इन्द्रिय बाहर गई उस प्रकाश को लेकर, और जहाँ पर अज्ञान का घटरूप परिणाम है वहाँ पहुँची तथा उसने घट को प्रकाशित किया। ज्ञान के जिस हिस्से के ऊपर घट का आवरण था वह खुल गया। वहाँ रोशनी पड़ी तो उस इन्द्रिय की वृत्ति को घट का ज्ञान हुआ अर्थात् उस इन्द्रिय की वृत्ति से घड़े का आवरण हटा, उतना पर्दा वहाँ उसने हटाया। चूँकि इन्द्रिय से संबंधित वह अहम् है इसलिये उस पर्दे के हटने से 'मैंने घड़े को जाना' यह ज्ञान हो गया।

इस ज्ञान को बाह्य दृष्टि से देखते हैं : शरीर एक संस्थान है। चित्तवृत्ति

का, संस्कारों का उदय होता तो मन में है, जिस प्रकार देखती तो आँख है पर आँख का गोलक खुलेगा तभी न देखेगी। जो यह दीख रही है वह तो आँख है नहीं। आँख तो वह इन्द्रिय है जो गोलक में देखने की क्षमता रखती है, *जो* देखती है। यह स्थूल तो गोलक है, इंद्रिय के बैठने की जगह। उसी प्रकार सोचता तो मन है, संस्कार तो मनमें हैं, लेकिन चित्त के संस्कारों के बैठने की जगह मस्तिष्क है। वहाँ से जब संस्कार चला तो इन्द्रिय तक पहुँचा, त्वक् इन्द्रिय तक पहुँचा, स्पर्श जहाँ तुमने किया। इस प्रकार वहाँ से चलकर वह आगे ठेठ घट तक पहुँचा। अतः उस ज्ञान को भगवान् ने जड़ कहा, 'ऊर्ध्वमूलम्'। जड़ मायने मूल। जड-चेतन वाला जड नहीं, पेड़ की जड़ की तरह। **'सर्वे कायाः'** ब्रह्मा पर्यन्त जो भी तुम्हें दीखेगा दृश्य जगत्, वह सब उसीसे **'प्रभवन्ति'** उसीसे उत्पन्न हो रहा है।

जहाँ हमने घड़े के आवरण को भंग किया वहाँ दूसरी तरफ से भी तो बैट्री आ सकती है, तीसरी तरफ से भी तो बैट्री आ सकती है। उस एक ही घड़े को प्रकाशित करने वाली दस रोशनियाँ भी हो जायेंगी पर प्रकाशित तो घड़े को ही करेंगी। हरेक कहेगा कि 'मेरी बैट्री ने घड़े को प्रकाशित कर दिया'। इसी प्रकार उसी देश काल में होने वाला जो घट है उस घट वाले आवरण को जब दस आदमियों ने नष्ट किया, दस अंतःकरणों ने नष्ट किया, तब उन दसों अहम् का भान क्या है? 'हम सबने देखा'। इसलिये जिन चीजों का हम ज्ञान कर रहे हैं वे प्रकाशित होती तो हमारे चेतन से हैं परन्तु उस घट के अनुभव का यदि दस आदमियों का प्रारब्ध है तो दसों आदमियों के प्रारब्ध से वह एक ही घट दीखेगा। लोग उस घट को तो मान लेते हैं कि 'यह तो बाहर सच्चा घड़ा है' क्योंकि दस आदमियों को दीखा और जहाँ केवल हमें दीखा, और किसी को नहीं दीखा, वहाँ मन में यह रहता है कि 'यह तो मेरे मन को दीखा बाकि मनों को नहीं दीखा'। बस इतना ही भेद है और तो भेद है नहीं। व्यक्ति देखेगा अपनी-अपनी इन्द्रियों और अपने-अपने मन से ही। भगवान् विष्णु ने गाधि को समझाया, 'चूँकि उन सबका प्रारब्ध उस अनुभव को करने का था इसलिये जो तुमने अनुभव किया वह उन सबने भी अनुभव किया।' इसीलिये यहाँ पर कहा **'स मूलं शाश्वतिकः'** वह शाश्वतिक है जिसको अव्यय या सनातन शब्द से कहा गया।

'स नित्यः' और वह नित्य है। हमेशा एक जैसा रहने वाला है। जगत् का ज्ञान हुआ **'इन्द्रियैर्जगतोऽस्य ज्ञानात्'** इन्द्रियों के द्वारा तो हमें केवल उसका ज्ञान हुआ। घड़े का ज्ञान हुआ। अब मान लो अकस्मात् सूर्य का उदय हो गया। जेठ के महीने का बारह बजे का सूर्य सामने आ गया। तब क्या होगा ? जब हम एक-एक अलाती के द्वारा, एक-एक टार्च के द्वारा देखते हैं तब तक तो हमें एक-एक पदार्थ दीखते हैं, अलग-अलग। परन्तु जिस समय सूर्य का उदय हो जायेगा, जेठ के महीने में बारह बजे का सूर्य आ जायेगा, तब अंधकार रह नहीं जायेगा। फिर वह तत् तत् चीजों का भान नहीं होगा। जिस ज्ञान से यह सारा अज्ञान नष्ट होता है उसको इसलिये कहा **'ज्ञानाद् अन्यः'**। बुद्धि-वृत्तियों के द्वारा जिन जिन ज्ञानों को, घटपटादि ज्ञानों को, इन्द्रियों के द्वारा करते हो, उनसे यह अन्य ज्ञान है। अर्थात् जब ब्रह्म का ज्ञान होता है, ब्रह्माकार वृत्ति बनती है उस समय कहीं भी कुछ परिच्छिन्नता नहीं रह जाती। है तो वह भी प्रकाश, और घटादि ज्ञान भी प्रकाश। परन्तु वह कैसा ज्ञान है ? 'शाश्वतिकः स नित्यः'—वह शाश्वतिक और नित्य है। **'ज्ञेयात् अनन्यस्य'**; घड़ा ज्ञेय हुआ। जब तुम घड़े को जानते हो तब परिच्छिन्न घड़ा और तुम्हारा परिच्छिन्न ज्ञान—ये दोनों अलग हैं, संबंध से पैदा होते हैं। परन्तु जब ज्ञेय ज्ञान होता है तब पता लगता है कि घड़े के आकार वाला वह ज्ञान ही है। अहम् के द्वारा जब तक जानते हो, सीमित प्रकार से, तब तक घड़ा अन्य है और उसको जानने वाला मैं अन्य हूँ। और अब क्या पता लगा ? कि उस एक अखण्ड ब्रह्म के अन्दर जैसे अंतःकरण की वृत्ति अहंरूप से स्फुरित हुई ऐसे ही घटवृत्ति घट रूप से स्फुरित हुई ! सचमुच में यह अहम् भी ज्ञानरूप ही है और वह भी ज्ञान रूप ही है। नामरूप की उपाधि के कारण यह *मैं* प्रतीत हो रहा है वह, *घट* प्रतीत हो रहा है। ज्ञेय से न जानने वाला भिन्न है न जिसको जान रहा है वह भिन्न है। यह केवल अद्वितीय अखण्ड अद्वैत ज्ञान मात्र ही है। इसलिये कहा—'ज्ञेयात् अनन्यस्य' ज्ञेय से भिन्न नहीं है।

वही **परमेष्ठी** है। परम जो स्थान है उसमें विराजित है इसलिये परमेष्ठी है। अपनी महिमा में विराजित है। कहाँ पर ? तो इसीको हृदयाकाश कहते हैं। यही हृदयाकाश है जहाँ पर वह विद्यमान रहते हुये प्रतीत इन सब रूपों

में होता है। इसलिये वही परमेष्ठी रूप है। और वही **'विभाजः'**। 'विभाजः' अर्थात् विभक्त। देव-पितृ-मनुष्यादि रूप से, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय इत्यादि रूप से वह ज्ञेय ही अनेक प्रकार का हुआ अज्ञान काल में प्रतीत होता रहता है। ठीक जैसे एक रस्सी ही अज्ञान काल में सर्प, जलधारा, दंड, वैल का मूत्र आदि अनेक रूपों में दीखती रहती है। ज्ञान होने पर क्या पता लगता है ? कि जो अब तक जलधारा, सर्प, माला, दंड इत्यादि रूपों में दीख रहा था वह सचमुच में क्या थी ? रस्सी ही थी। उसी प्रकार अहंरूप से दीखने वाला, अस्मत्-प्रत्यय से दीखने वाला, युष्मत्प्रत्यय से दीखने वाला कोई अन्य नहीं। उस स्थिति में न मैं न तुम, केवल एकमात्र अखण्ड आनन्दस्वरूप अद्वैत है। इसलिये कहा 'विभाजः'। इस प्रकार स्वयं ही वह सारे रूपों से विभक्त हुआ प्रतीत होता है, अनेक प्रकार का प्रकट होता है। चूँकि अनेक प्रकार का प्रतीत होने का स्वभाव है इसलिय उससे ही आकाशादि क्रम से शरीर भी पैदा हो गया, अंतःकरण भी पैदा हो गया, अहम् भी पैदा हो गया। फिर अहम् जब ज्ञाता हो गया तो दूसरी चीज ज्ञेय भी हो गयी। सारी की सारी सृष्टि ज्ञान के कारण इस प्रकार से उत्पन्न होती है। इसलिये श्रुति कहती है—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'--सारा जगत् उससे उत्पन्न इस प्रकार होता है।

इस प्रकार का जो आत्मा है उसको जब पहले अच्छी तरह से समझ लिया जाता है तब समझ लेने के बाद इसमें स्थिर रहने में कुछ प्रतिबन्धक आ जाते हैं। अनुभव तो करा दिया जाता है परन्तु उस अनुभव की स्थिरता में प्रतिबन्धक होते हैं। पहले भी कहा था कि केवल शब्द से जो परोक्ष ज्ञान हुआ उससे काम नहीं होता। शब्द से ज्ञान हुये बिना तो आगे के अपरोक्ष ज्ञान का रास्ता ही नहीं खुलेगा। जब हम लोग कह देते हैं कि केवल परोक्ष ज्ञान से काम नहीं चलेगा तो लोग कहते हैं कि शास्त्र से ज्ञान करना ही क्यों ? यदि शास्त्र से ज्ञान ग्रहण करोगे ही नहीं तो अपरोक्ष के लिये प्रवृत्ति होगी कैसे ? स्थिर रहोगे किसमें ? अतः ढंग यही है : ज्ञान हुआ। ज्ञान होने पर दूसरी चीजें इसके बीच में आती हैं। उसी को हम लोग प्रतिबन्धक कहते हैं। निरन्तर उसका प्रवाह चले इसके लिये प्रयास चाहिये। जब तक परिच्छिन्नता दूर नहीं होवे तब तक वह निरन्तर प्रवाह नहीं रहेगा। है तो वह ज्ञानस्वरूप और ज्ञान स्वरूप से नित्य होता है। जो अनुभव हमने कर लिया है वह अनुभव अब कभी ऐसा नहीं हो सकता है कि हमने *नहीं किया* है। स्वरूप से तो नित्य है लेकिन दूसरे अनुभवों के द्वारा वह फिर ढक जाता है।

आध्यात्मिक योग का प्रयास करना है और न्याय सहित अर्थात् कहीं पर भी विचार को नहीं छोड़ना है। यहीं पर ज्ञान मार्ग और उपासना मार्ग का भेद आता है। उपासना मार्ग में तुम किसी चीज को मान लेते हो बस इतना ही है, इसलिये अन्त तक वह मानना ही कह सकते हो। और मानना क्योंकि *तुम* करते हो इसलिये तुम्हारे ऊपर निर्भर करता है। ज्ञान मार्ग के अन्दर तुम मानते कुछ नहीं हो। मानते तो केवल यह हो कि विचारपूर्वक जो चीज अनुभव से सिद्ध होगी वह ठीक होगी। अगर इसी में कोई संदेह करे कि विचारपूर्वक अनुभव को ही हम ठीक क्यों मानें ?—तब तो विद्यारण्य स्वामी कहते हैं कि उसको तो मिट्टी के लोंदे से बना आदमी मानना पड़ेगा! क्योंकि मानव की विशेषता यह है कि जो चीज उसको युक्ति और अनुभव दोनों से समझ में आ जाये उसको वह मान लेता है। उसको वह जानता है कि यह ठीक है। उसके बारे में फिर वह संदेह नहीं करता। अगर तुम अपने ही युक्ति और अनुभव पर संदेह करने लगो तो फिर तुम्हें कैसे रास्ता दिखाया जाये ? परन्तु जो चीज युक्ति से संगत भी है और अपने अनुभव में भी है उसे स्वीकारो तो शास्त्र आगे रास्ता बता देता है। अतः हर स्तर पर वेदान्त की साधना के अन्दर युक्ति से भी सोचना है और अनुभव से भी मिलाना है। तब ये सारे प्रतिबंध हट जायेंगे। यहाँ दोष प्रतिबन्ध हैं। दोष किससे होता है ? ब्रह्म के अज्ञान से जो मिथ्या प्रत्यय है बस वही दोष है, सब दोषों का मूल है। दोष क्या हैं और कैसे हटते हैं यह आगे विचार करेंगे।

●

प्रवचन-१३

'दोषाणां तु निर्घातो योगमूल इह जीविते।
निर्हत्य भूतदाहान् क्षेमं गच्छति पण्डितः।।११।।'

परमात्मस्वरूप जान लेने पर जो प्रतिबन्धक हैं उनकी निवृत्ति करना आवश्यक है। इसलिये कहते हैं—**'दोषाणां निर्घातः योगमूलः'**। दोष क्या है यह आगे बतायेंगे। जो ज्ञान में स्थित रहने के लिये प्रतिबन्धक हैं वही दोष हैं। उनका जो निर्घात है अर्थात् उनका जो समापन है वह होने पर ही **क्षेम** की प्राप्ति होती है। अब पहले तो क्षेम शब्द को समझना जरूरी है। गीता में भगवान् ने कहा—'योगक्षेमं वहाम्यहम्'। योग-क्षेम का अर्थ क्या है ? जो चीज हमें न मिली हो वह मिले यह तो योग है और जो चीज हमारे को मिली हुई है वह हमारे पास सुरक्षित बनी रहे यह है क्षेम। अप्राप्त की प्राप्ति योग है और प्राप्त का संरक्षण क्षेम है। यहाँ पर दो बातें कही—एक तो कहा **'क्षेमं गच्छति पण्डितः'** क्षेम को प्राप्त करता है अर्थात् जिस खजाने को इसने प्राप्त किया वह खजाना इसके पास बिना किसी रुकावट के बना रहता है। क्षेम तभी हो सकता है जब तुम्हारे *पास* खजाना हो। कोई दिगम्बर, नागा बाबा कहीं जा रहे हैं और उनसे कोई कहे 'आप यहाँ रहिये, सुरक्षित रहियेगा। आपकी कोई चोरी नहीं होगी !' तो उनके पास है क्या जो कोई चोरी करेगा ? अगर तुम्हारे पास कुछ है नहीं तो क्षेम की बात व्यर्थ है। कुछ होगा तभी क्षेम की बात है। जिसने आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त कर लिया है—खजाना उसके पास है। अब वह चाहता है कि ज्ञान निरंतर बना रहे, किसी प्रतिबन्धक अथवा दोष के द्वारा इधर उधर छीन-झपट न लिया जाय, तब क्षेम की बात कर सकते हैं।

यहाँ पण्डित का अर्थ करते हुये भाष्यकार कहते हैं—'ब्रह्मविदि ह्यत्र पण्डितशब्दः प्रयुक्तः' यहाँ पण्डित शब्द का प्रयोग ब्रह्मवेत्ता के लिये है। शास्त्र जानने वाले को यहाँ पंडित नहीं कहा। वह भी पण्डित शब्द का अर्थ है परन्तु यहाँ चूँकि कहा है 'क्षेमं गच्छति पण्डितः' इसलिये जिस ब्रह्मवेत्ता को ब्रह्मज्ञान है उसी को कहा जा रहा है कि वह क्षेम की प्राप्ति कर पाता है जब दोषों का निर्हरण करे, दोषों का निर्घात करे। यह विचार

की बात है। सारे शास्त्र एक स्वर से कहते हैं कि परमात्मा के ज्ञान से मोक्ष होता है। फिर दोषों का निर्घात करने से क्षेम होता है यह कहना कैसे बनेगा ? इसका मतलब हुआ कि दोषों को हटाने से मोक्ष मिलता है। ज्ञान से मोक्ष नहीं मिला। ज्ञान का प्रतिबन्धक हटे तब मोक्ष मिले। अतः प्रतिबन्धक की निवृत्ति, दोष का हटना मोक्ष का कारण हुआ, ज्ञान कारण नहीं हुआ।

इसका जवाब देने के लिये यहाँ कहा **'दोषाणां निर्घातः योगमूलः'**। 'क्षेमं गच्छति'; कब ? जब 'योगमूलः निर्घातः'। योग है मूल जिसका, अर्थात् जड़ जिसकी, ऐसा जो दोषों का हनन। इसका मतलब हुआ कि दोषों के हनन के और प्रकार भी हो सकते हैं परन्तु उनसे क्षेम की प्राप्ति नहीं होगी। योग है मूल जिसका ऐसा जो निर्घात उससे क्षेम मिलेगा। क्षेम है ज्ञान प्राप्त होने पर उसका रक्षण, योग है अप्राप्त की प्राप्ति अर्थात् आत्मज्ञान की प्राप्ति। आत्मज्ञान की प्राप्ति के द्वारा जो दोषों का निर्घात होता है वह मोक्ष का कारण होता है इसलिये ज्ञान को मोक्ष का कारण कहा जाता है। ज्ञान होने पर वह ज्ञान दोषों का निर्घात भी करता है 'योगमूलो निर्घातः' और मोक्ष भी देता है, क्षेम भी देता है।

यह कब हो जाता है ? तो कहते हैं **'इह जीविते'** यहाँ, इस लोक में जब तक जीवित हो तभी तक हो जाता है। यहाँ से मरकर कहीं किसी लोकान्तर में जाओगे और तब दोष-निर्घात होगा, आत्मज्ञान की प्राप्ति होगी ऐसा नहीं है। 'इह जीविते' जीवित रहते हुए। यह उपनिषदों की बार-बार घोषणा है कि मोक्ष यहाँ प्राप्त करना है। बाकी जितने लोग हैं वे सब कहते हैं यहाँ से किसी परमधाम में जाकर फिर मोक्ष होगा। उपनिषदें बार-बार कहती हैं कि—शरीर छूटने से पहले अगर तुमने उसको प्राप्त कर लिया तभी बुद्धिमानी है। भगवान् ने भी कहा—'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः' यहीं उन्होंने जन्म मरण को जीत लिया जिनका मन सम ब्रह्म में स्थिर है। वेदान्त शास्त्र बार-बार इस बात पर जोर देता है कि जीते हुये ही योगमूल जो दोषों का निर्घात है उससे क्षेम का लाभ होता है।

दूसरी शंका आती है : ज्ञान दोषों का निर्घात यदि कर ही देता है तो यह कहने की क्या जरूरत पड़ी कि 'दोषों का निर्घात *होने पर*' ? बड़ा विलक्षण जवाब आपस्तम्ब महर्षि देते हैं **'निर्हत्य भूतदाहान्'**।

'भूतदाहान्' भूतों को प्राणियों को जलाने वाले ये दोष हैं, इनका निर्घात करके। जब तक तुम देहों में संबंध वाले हो तब तक ये तुम्हारा दाह करेंगे, तुम्हें जलायेंगे। कारण क्या है ? यह समझना पड़ेगा। शंका पहले समझ लेनी पड़ेगी क्योंकि विचार की बात है। यदि ज्ञान से दोष का निर्हरण अवश्य हो जाता है तो यहाँ अलग से कहने की क्या जरूरत ? जवाब में कहा कि ये भूतदाहक दोष हैं। भूतदाहक दोष ये क्यों हैं ? फल देने के लिये प्रारब्ध कर्म को राग-द्वेष की अपेक्षा होती है। हमें रसगुल्ला खाकर सुख मिलेगा। प्रारब्ध ही सुख या दुःख देता है। रसगुल्ला खाकर सुख तब मिले, जब रसगुल्ला खाना अच्छा लगे। कहीं पर खाती लकड़ी काट रहा है। लकड़ी काटने से वहाँ जो लकड़ी का बुरादा होता है उसे खाकर क्या सुख मिल सकता है ! रसगुल्ला खाकर सुख तभी मिल सकता है जब रसगुल्ले के प्रति तुम्हारी उपेक्षा न होवे, रसगुल्ले के प्रति तुम्हारी इच्छा होवे। इसी प्रकार दुःख का प्रारब्ध है। बहुत जोर से सिरदर्द हो रहा है। सिरदर्द अच्छा न लगे तभी दुःख होवे। अगर सिरदर्द के प्रति तुम्हें उपेक्षा होगी तो तुम्हें दुःख कैसे होगा ? प्रारब्ध देगा सुख-दुःख। सुख-दुःख देने के लिये प्रारब्ध को उस भोगकाल में तुम्हारे में राग-द्वेष भी पैदा करना पड़ेगा। अब ये राग-द्वेष तुमने अपनी तरफ से प्रयत्न करके पैदा किये नहीं। इसलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'प्रवृत्तकर्माक्षिप्तत्वात् दोषाणाम्'। ये जो दोष हैं ये प्रारब्ध कर्म के द्वारा अपने आप लाये गये दोष हैं, उनसे आक्षिप्त हैं क्योंकि उसके बिना प्रारब्ध अपना फल दे नहीं सकता।

दो तरह के राग-द्वेष हैं। एक वे जिन्हें प्रारब्ध कर्म अपना फल देने के लिये पैदा करते हैं। दूसरे राग-द्वेष तुम अपनी तरफ से नये करते हो। यहाँ बैठे हुये हैं। कलकत्ते का रसगुल्ला मिल जाये तो बड़ा अच्छा है। कलकत्ते में नवीन चन्द्र की दुकान के पास हमारे अमरनाथ रहते हैं। उनका टेलीफोन नम्बर हमारे पास है। उसको टेलीफोन करो। वह वहाँ से रसगुल्ला भेज देगा क्योंकि उसका एक जवाई है मदन जी, वह हवाई जहाज चलाता है। उसके द्वारा भेज देगा और हम यहाँ हवाई जहाज पर किसी को भेज कर मँगवा लेंगे। यह सब जो प्रयत्न करवा रहा है वह प्रारब्ध तो नहीं। तुम अपनी तरफ से उस पदार्थ की इच्छा करके प्रयत्न कर रहे हो कि वह रसगुल्ला मिल जाये। तुम चुपचाप बैठे हुये हो। कोई आता है, कहता है, 'महाराज, आज ही सवेरे कलकत्ते से आया हूँ, आप के लिये रसगुल्ला लाया हूँ।' इस रसगुल्ले में भी राग है तभी खा सकोगे। परन्तु यहाँ रसगुल्ले के लाने के लिये अपना कोई प्रयत्न नहीं है। वह तो प्रारब्ध खुद ही लेकर आया। जो प्रारब्ध से प्राप्त राग-द्वेष हैं ये अयत्न-कार्य हैं इनके लिये हमने कोई प्रयत्न नहीं किया। प्रारब्ध ऐसे ही राग-द्वेष लायेगा।

प्रायः दोनों के भेदों को न समझने के कारण हम लोगों के मन में बहुत जगह शंकायें होती हैं। कहीं-कहीं शास्त्र कह देते हैं कि ज्ञान होने पर प्रारब्ध कर्म से भोगकाल में, व्यवहार काल में जो राग द्वेष होते हैं वे तुम पर कोई प्रभाव नहीं डालते; और कई जगह, जैसे यहाँ, कहेंगे कि उन दोषों का निर्घात करो। जब तक राग-द्वेष हैं तब तक ज्ञान कैसे हो सकता है? दोनों बातें शास्त्रों में लिखी हुई हैं। यहाँ महर्षि आपस्तम्ब और भगवान् भाष्यकार दोनों इस बात को स्पष्ट करते हैं कि यत्नपूर्वक जो राग-द्वेष कार्य कराते हैं उनका निर्घात करना है। वे प्राप्त इसलिये हो जाते हैं कि प्रारब्ध कर्म अपना फल देने के लिये उनको उद्बुद्ध करता है। इन दोनों दोषों को अलग अलग समझना जरूरी है। जितने हमारे कर्म हैं, अनेक जन्मों में किये हुये हैं, उनमें से जो इस जन्म में फलदान के लिये प्रवृत्त हैं वे प्रारब्ध कर्म हैं। वे अपना फल देने के लिये, सुख-दुःख देने के लिये दोषों को उत्पन्न कर देते हैं। दूसरे जितने कर्म हैं जो फलदान के लिये प्रवृत्त नहीं हैं वे ज्ञान से नष्ट होते हैं। प्रारब्ध कर्म के द्वारा आक्षिप्त जो दोष हैं उनका निर्घात यदि नहीं करोगे तो आचार्य शंकर कहते हैं—'प्रवृत्त्याधिक्यहेतुत्वप्रसङ्गात्' तुम अधिकाधिक प्रवृत्ति में फँस सकते हो। रसगुल्ला खाने के लिये प्रारब्ध ने जितना दोष किया उतना रसगुल्ला खाकर खत्म कर दो। रसगुल्ला खाने के बाद तुरंत यदि तुम उस दोष का योगमूल अर्थात् ज्ञान के बल से निर्घात नहीं करोगे तो अगले दिन रसगुल्ला खाने की इच्छा कर लोगे ! प्रवृत्ति की अधिकता हो जायेगी। जैसे ही तुमने रसगुल्ला खा लिया—इतना राग तो प्रारब्ध ने दे दिया—उसके बाद तुरंत उस दोष का निर्घात करो, वह जो तुम्हें सुख हुआ उसे फिर प्रवृत्ति का कारण नहीं बनने दो क्योंकि तुम्हारा निश्चय यह है कि रसगुल्ला खाना न खाना दोनों ही एक जैसा है—मिथ्या है, इसलिये इसमें प्रवृत्ति व्यर्थ है। ज्ञान के मूल से दोषों का निर्घात होता है। इससे अतिरिक्त उपायों से दोषों को दबा तो

सकते हो पर उनका निर्घात नहीं कर पाते, वे फिर प्रवृत्ति का कारण बन जाते हैं। यदि उसके स्वरूप का ज्ञान है कि ज्ञानातिरिक्त वहाँ कुछ नहीं है, तब आगे प्रवृत्ति कराने वाला वह नहीं हो सकता।

भाष्यकार आगे कहते हैं कि—'मन्दमध्यमोत्तमविद्यापेक्षत्वाच्च'। यह फर्क क्यों ? किसी के अन्दर विद्या है, ज्ञान है, लेकिन अभी मन्द है अतः उसको प्रयत्नपूर्वक पुनः उस पर विचार करना पड़ेगा। किसी में मध्यम है। थोड़ी देर लगकर याद आ जाता है। और किसी में उत्तम है जो यह भूलता ही नहीं। जो उत्तम विद्या वाला है उसको उत्पन्न हुआ राग भी उस काल में ही मिथ्या लगता है। मध्यम वाला भोग करते समय उस दोष से प्रभावित हो जाता है परन्तु भोगान्त में फिर से याद कर लेता है। जो मन्द है उसे प्रयत्नपूर्वक फिर से याद करना पड़ता है। जो आज मन्द है वही प्रयास करके मध्यम हो जायेगा। जब वह प्रयास पुष्ट हो जायेगा तब उत्तम हो जायेगा। उत्तम के लिये प्रयत्न की जरूरत नहीं। मध्यम को प्रयत्न करना नहीं-सा पड़ता है परन्तु क्षणिक होता है। और मन्द को प्रयत्न करना चाहिये। ऐसी विधि नहीं कि सबको करना चाहिये क्योंकि अपनी-अपनी स्थिति से इसका निर्धारण होता है। दोषों का निर्घात उत्तम के लिये स्वाभाविक है, मध्यम के लिये स्मरणमात्र से है और मन्द के लिये प्रयत्न से है। हर हालत में प्रारब्ध के द्वारा आक्षिप्त जो राग-द्वेष रूप दोष है उसका निर्घात अवश्य करना है। यदि निर्घात नहीं करोगे तो प्रवृत्ति में लग कर आत्मस्वरूप की निरंतर स्मृति का प्रवाह बनकर ज्ञान की जो दृढता, प्रतिबन्धक की निवृत्ति, होनी है वह नहीं होगी।

इसको योगमूल क्यों कहा ? भाष्यकार कहते हैं—'सम्यग्दर्शनसचिवत्वात् बलवन्तो योगाः। मिथ्याप्रत्ययसचिवत्वात् दुर्बलत्वात् निर्हन्यन्ते।' एक शंका होती है कि अनादिकाल से अनन्त जन्मों में किये हुये राग-द्वेष प्रबल हैं और ज्ञान तुमने अभी-अभी प्राप्त किया है; जो अत्यन्त प्रबल हैं वे तुम्हारे ज्ञान को क्यों नहीं दबा देंगे ? इतने समय तक किये हुये राग-द्वेष आदि दूर करो तो कम से कम उतना ही समय उनको हटाने के लिये लगेगा! इसका मतलब हुआ कि अनन्त काल इसीमें लग जायेगा। मोक्ष कब होगा? जवाब दे दिया कि ठीक ज्ञान से होने के कारण आत्मज्ञान बल वाला हो जाता है। सम्यग्दर्शन के साथ होने के कारण यह बल वाला हो जाता है।

और 'मिथ्याप्रत्ययसचिवत्वात्' जो तुम्हारे राग-द्वेषादि, वे सारे के सारे मिथ्या प्रतीति से ही पुष्ट हुये हैं इसलिये दुर्बल पड़ जाते हैं। दोषों को हटाने की जो दूसरी प्रक्रियायें हैं वे सफल नहीं होतीं क्योंकि उनको यह सम्यग्दर्शन की सचिवता नहीं मिली है। उन प्रक्रियाओं में जितने ज़ोर का दोष है उतने ही ज़ोर का उसे प्रहार मारना पड़ता है। जैसे किसी गुफा में कुर्सी रखी हुई है। हजार साल से उस कुर्सी को किसी ने नहीं देखा। हजार साल के बाद जाकर तुमने उस पर टॉर्च डाला। कोई कहेगा कि ऐसे थोड़े ही कुर्सी दीख जायेगी ! हजार साल का अंधेरा है तो हजार साल अथवा पाँच सौ साल तो मिटने में लग जायेंगे ! लेकिन ऐसा तो नहीं होता। क्यों नहीं होता ? वहाँ सच्ची कुर्सी है; अंधकार सच्ची चीज को ढाँके हुए है। वह सच्ची चीज वहाँ है। अगर वह कुर्सी वहाँ होवे नहीं और तुमसे कहा जाये 'यहाँ ध्यान करो। करते-करते जब तुम्हारा ध्यान दृढ हो जायेगा तब तुम्हें कुर्सी नजर आयेगी'; तब तुम्हें लम्बे समय तक ध्यान करना पड़ेगा। सामने शालिग्राम है उसकी पूजा करते हो मानकर कि यह विष्णु है। ५० साल पूजा करते हो तब भी वह काली पट्टियाँ तो काली पट्टियाँ ही दीखती हैं। परन्तु जब भगवान् विष्णु दर्शन के लिये प्रकट होते हैं तब वे सामने आ जाते हैं। तब क्या तुमको वहाँ ध्यान करके २-४ साल लगते हैं उनका दर्शन करने के लिये ? जहाँ जो चीज नहीं है वहाँ वह चीज यदि प्रकट करनी है तब दीर्घ प्रयत्न करना पड़ता है। जहाँ जो चीज है वहाँ उसे देखना हो तो यदि तुम्हारा प्रमाण ठीक है तो उसी समय दीख जाती है। चूँकि संसार के मिथ्यात्व और परमात्मा की वास्तविकता का ज्ञान प्रमाणजन्य होने के कारण सम्यग्दर्शन है इसलिये प्रबल बनता है, दोष दुर्बल रह जाते हैं।

एक सोमयाजी ब्राह्मण था। वैदिक कर्मों में सोमयाग का बड़ा माहात्म्य है। उसका एक लड़का था यज्ञदत्त। सोमयाजी बहुत बड़ा विद्वान् था, कर्म करने में कुशल था इसलिये जगह जगह से राजा लोग उसको बुलाया करते थे। वह यज्ञ करने के लिये जाया करता था। निरंतर व्यस्त रहता था। जब भी वह कभी घर में रहे तो देखे कि उसका बेटा यज्ञदत्त वहाँ है नहीं। उसके पढ़ने-लिखने का सब इंतजाम उसने कर दिया था पर स्वयं उसको हमेशा बाहर रहना पड़ता था, राजा लोग बुलाते थे। लड़के का पढ़ना ठीक

हो गया तो वह पढ़ा भी ठीक से। देखने में भी सुंदर था। पिता देखता था कि ठीक है। विद्वान् भी हो गया लड़का। पिता ने विचार किया कि उसको कुछ कर्मकाण्ड भी सिखलावें, आखिर जगह-जगह जायेगा और यज्ञादि करेगा। इस बीच वह लड़का पढ़-लिख तो ठीक गया पर उसे जुआ खेलने की आदत हो गई थी। जुआ खेलने लगा, उसमें कई बार नुकसान होता था। घर में आवे तो माँ से कभी गहने ले जावे, कभी बिना पूछे ले जावे। थोड़े दिन तो माँ ने सोचा रबड़ी खाता होगा—ब्राह्मण का लड़का है। लेकिन कुछ दिनों में उसे पता लग गया कि यह तो जुआ खेलता है। माँ उसे बहुत डाँटने लगी कि 'यह क्या कर रहा है ? मेरे पीहर में भी कोई ऐसा नहीं हुआ। सब के सब अच्छे विद्वान् कर्मकाण्डी लोग हैं। सब जगह उनकी इज्जत होती है। तेरे घर के अन्दर भी तेरे पिता, चाचा, ताऊ—सब बड़े-बड़े विद्वान् हुए। दादा-दादी सब विद्वान् हुये। तू यह क्या कर रहा है ?' परन्तु यह जुए की आदत एक बार हो जाये तो बहुत बुरी होती है।

यह बात आप लोगों को ज़रा कड़वी लगेगी। जुए का मतलब क्या होता है ? जो कार्य करना अपने हाथ में नहीं उसे करने का प्रयत्न करना—यह जुआ खेलना होता है। हमारे पास दस हजार रुपये हैं। हम दूसरों से, बैंक से लेकर तीस हजार का व्यापार करते हैं। कोई नहीं जानता कि व्यापार में कब लाभ होगा, कब हानि होगी। तुमने बीस हजार कर्जा लेकर व्यापार किया, यह तुमने जुआ खेला। केवल पासे से ही खेलने को जुआ नहीं समझ लेना। हमारे पास दस हजार हैं और दस हजार पर्यन्त हम किसी भी कार्य को करते हैं तब लाभ-हानि में जुआ नहीं हुआ। हमारा पैसा है, चाहे जहाँ खर्च करें। परन्तु जब हमने दूसरे का पैसा लेकर लगा दिया इस आशा से कि हमारा दाँव आ जायेगा तब जुआ है। दाँव नहीं आया—हार गये। जिनका पैसा था वे आशा में बैठे रहेंगे ! आज लोग यह बात पसंद नहीं करेंगे क्योंकि सारे के सारे इस जुए में फँसे हुये हैं। दुःख का मूल कारण यही है। पहले दस हजार होता था तो पाँच हजार घर के लिये रखते थे और बाकी के पाँच हजार से व्यापार करते थे। चला भी गया तो खाने को पैसा घर में है ही। जिसके पास नहीं होता था वह किसी की नौकरी करता था। उसमें कोई जुए का काम नहीं है। अब यह द्यूत

की प्रक्रिया शुरू हो गई, जुआ हो गया। जुआरी हमेशा सोचता है कि अगला दाँव आ जायेगा तो सब पूरा एक बार में हो जायेगा।

माता यज्ञदत्त को समझावे, 'तू जुआ खेलना छोड़ दे।' पर हर बार वह यही सोचे कि 'अब की बार मेरा दाँव आ जायेगा तो घर की जो चीजें ले गया हूँ वे पूरी कर दूँगा, फिर छोड़ दूँगा।' धीरे-धीरे आदत पड़ गयी—जुआ खेलना ही है। अब कई बार पिता घर आवे तो दिन-दिन भर लड़का वहाँ न होवे। पिता को वैसे ही समय कम मिलता था। वह माँ से पूछे, 'क्या बात है ? आज सवेरे से दीखा नहीं।' वह बोले, 'जी आप उधर जरा हवन करने चले गये थे तब तक वह पढ़कर अभी-अभी तो वेद पाठ कर रहा था, अभी अपने दो-तीन साथियों के साथ कहीं चला गया।' वह कहे, 'मेरे साथ चलो' तो लड़का कोई न कोई बहाना बना देवे। वह कहे, 'मेरे पेट में तकलीफ है।' तो माँ भी कह देवे कि 'हाँ, इसका दो-तीन दिन से पेट खराब है। ठीक से खाया भी नहीं।' इस प्रकार करते हुये काफी काल बीत गया। माँ उसको डाँटे भी कि 'देख तेरे पिता महा गुस्सैल हैं। जिस दिन उन्हें पता लग गया उस दिन बड़ा भारी नुकसान हो जायेगा। तू यह छोड़।' पर वह छोड़े नहीं। पिता के सामने माँ बात ढाँकती रहे।

एक दिन पिता किसी के यहाँ अनुष्ठान कराने गये थे, पूजा कराने गये थे, यज्ञ कराने गये थे तो उन्होंने देखा कि एक बार जब वे उत्तर कुरु के राजा के पास गये तो किसी कर्मविशेष को करने के लिये उनके लिये एक विशिष्ट प्रकार की हीरे की सर्पाकार अंगूठी मिली थी। कुछ विशिष्ट कर्म उसे पहन कर किये जाते हैं अतः प्रायः वह लोगों के पास होती नहीं है। जैसे ही उन्होंने यजमान से कहा 'कुशा धारण करो' तो उसने झट वह हीरे की अंगूठी निकालकर पहन ली। वह देखते ही उन्होंने पूछा कि 'यह तुम कहाँ से लाये ?' उसने कहा 'कहीं से भी लाया हूँ।' उन्होंने कहा 'यह तुमने मेरे घर से चुराई है। मैं तो इसकी राजा को खबर दूँगा। यह अंगूठी तुम्हारे पास नहीं हो सकती। राजा निर्णय करेगा। अगर तुम्हारी है तो कहाँ से बनवायी, किससे ली—पता लगायेगा।' तब उसने कहा, 'काहे को पता लगवाते हो ? मुझे चोर बनाते हो ? कभी देखा भी है कि तेरे लड़के ने क्या किया ? तुम जब बंगाल के राजा के पास यज्ञ करने गये थे तो तांबे के घड़े लाये थे। तुम देखते भी हो कि वह सामान घर में पड़ा

हुआ है कि नहीं ? जब तुम दक्षिण गये थे और वहाँ यज्ञ करा कर आये थे तब तुम्हारे साथ नागदन्त की बनी हुई आराम कुर्सी आई थी। तुम देखते हो कि वह रखी है कि नहीं ? मुझे दोष दे रहे हो और मुझे चोर बना रहे हो !' इसी प्रकार की अनेक अद्‌भुत चीजों के उसने नाम लिये और कहा, 'लड़का जुआरी बन कर सब उड़ा रहा है और तुम बेवकूफ बन कर कमा रहे हो।' जब सब चीजों का उसने इस प्रकार उल्लेख सुना तो वह स्तब्ध रह गया। वहाँ से कर्म करा कर चुपचाप घर आया। आते ही पत्नी से कहा, 'मेरी वह हीरे वाली अंगूठी कहाँ है ?' वह बोली, 'जी यहीं कहीं तुमने रख दी थी। मैं जरा भोजन में लग गई, कुछ अतिथि आ गये थे। ढूँढ दूँगी।' उसने कहा, 'देख बेकार, बात मत बना। वह नागदन्त वाली कुर्सी कहाँ है ? अंगूठी तो चलो तुमने कोने में रख दी थी। वह जो मैं वहाँ से कलश लाया था वह कहाँ है ?' वह सब चीजें गिनाने लगा। अब तो वह समझ गयी कि इनको पता लग गया। उन्होंने कहा, 'तूने अपने लड़के की इस प्रकार गलतियाँ छुपाई इसलिये तू मेरे लायक नहीं है। मैं तो आज ही घर छोड़कर जा रहा हूँ। तू जाने और तेरा लड़का जाने।' वह हाथ-पैर जोड़ने लगी। उसने कहा, 'नहीं। मैं भगवान् का भजन करूँगा। जब तुम लोगों को जुआ ही खेलकर उड़ाना है तो मैं काहे के लिये कर्मकाण्ड करता रहूँ ?' वह तो उसी दिन पत्नी को छोड़कर चला गया।

जो थोड़ा बहुत बचा हुआ धन था उससे थोड़े दिन तक तो काम चला, उसके बाद वह सब खत्म हो गया। माँ पहले ही उसको समझाया करती थी कि, 'अपने ब्राह्मण हैं। ब्राह्मण का धन तो हुआ करता है—विद्या और तपस्या। दान दक्षिणा से कोई धनी थोड़े ही बन जाता है।' वह तो विद्या और तपस्या के प्रभाव से ही उनका सारा प्रभाव है। अब खाने पीने के लिये भी मुश्किल पड़ने लग गई। जो कुछ था सब बेच-बाच दिया। घर भी बेच दिया। एक बार वह तीन दिन से भूखा था। इधर उधर भटक रहा था। गांव के बाहर एक शिवमंदिर था। वहाँ लोगों ने कोई बड़े पूजन का अनुष्ठान किया था। उस पूजा के अनुष्ठान को होते देखा तो यह भी वहाँ जाकर बैठ गया कि शायद कुछ मिल जाये, पूजा-पाठ के अन्तमें कोई कुछ दे देवे। उन लोगों ने बड़े विधि-विधान से पूजा की और यह ध्यानपूर्वक देखता रहा। फिर पूजा इत्यादि करने के बाद उन्होंने भगवान् को नैवेद्य चढ़ाया। रात में तीन-चार घंटे पूजन किया था तो नैवेद्य चढ़ाकर वे लोग थोड़ा आड़े हो गये थे, भगवान् थोड़ी देर भोजन करेंगे तब तक के लिये लेट गये। अब इसको मौका मिला। इसने सोचा कि 'यह भोजन कर लूँ, अपना खाना पीना हो जावे।' भूख तो लगी हुई थी जोर से। वह चुपचाप मंदिर में घुसा। जो बत्ती भगवान् के सामने जल रही थी वह घी की तरफ मुड़ गई थी, बुझने जा रही थी। उसने सोचा कि यह बुझ गई तो दीखेगा कैसे, कहाँ क्या पड़ा हुआ है। उसने झट से अपना कपड़ा लिया और बत्ती बना दी। रोशनी हो गयी। अब उसने खाना पीना बटोरा। पंचामृत तो गट-गट पी लिया। खाने में उसने सोचा कि देरी होगी तो पकड़े जायेंगे, अतः खाना लेकर वह बाहर निकला। बाहर निकला तो उसके पैर के तले की आवाज से वे लोग जग गये। जगकर उन्होंने देखा कि कोई जा रहा है। उन्होंने तुरन्त लोगों से कहा कि 'पकड़ो पकड़ो। वह क्या करके जा रहा है ?' पकड़ने के लिये लोग दौड़े तो वह जोर से दौड़ा बचने के लिये। जोर से दौड़ा तो एक चट्टान से जाकर सिर लगा। वह गिर गया और वहीं मर गया।

वह यज्ञदत्त मर गया तो यमदूत उसे लेने आ गये। उसी समय शंकर जी के गण भी आ गये और बोले कि उसे शिवलोक ले जायेंगे। यमदूतों ने कहा 'यह जन्मभर पाप करता रहा है। कभी कोई अच्छा कर्म किया नहीं तो इसे शिवलोक क्यों ले जा रहे हो ?' उन्होंने कहा, 'यह ठीक है कि जीवनभर इसने गलत काम किये लेकिन मरने से ठीक पहले इसने क्या किया ? भगवान् शंकर को प्रिय आर्द्रा नक्षत्र का आज संयोग है। इस दिन इसने दीपदान किया।' जब दीप बुझ रहा था तब अपने कपड़ेसे उसने बत्ती बनाकर जलायी थी, उसके पास अंतिम बची हुई जो चीज थी उसे उसने भगवान् शंकर को दीपदान में दे दिया। और अंतिम चीज उसके पेट में क्या गई ? पंचामृत जो उसने पिया था। अंतिम चीज उसके हाथ में क्या थी ? भगवान् शंकर के नैवेद्य के ऊपर बिल्व पत्र चढ़ा रहता है। वह नैवेद्य पूरा उठाकर भागा था, अंतिम क्षण में नैवेद्य के ऊपर स्थित बिल्वपत्र उसके हाथ में था। अंतिम काम उसने ये ही किये। पिछला हिसाब बन्द ! शिवगण लेकर उसको शिवलोक गये। वहाँ जाकर भोग भोगे और अगले जन्म में वह किसी जगह का राजा उत्पन्न हुआ।

विचार करो; यहाँ केवल किसी एक व्यक्ति का ही जीवन मत समझ लेना। जितने प्राणी हैं सब इसी प्रकार के हैं। अनन्त जन्मों में तो हमने पाप ही पाप किये हैं। थोड़े से पुण्य किये हैं। क्योंकि यदि पहले हमने अच्छे कर्म किये होते तो हम यहाँ पैदा काहे के लिये होते ? यहाँ गर्भवास में आये हैं तो इससे यह निश्चित पता लगता है कि इसके पहले हमने बहुतेरा पाप बटोर रखा है। यदि उन सारे पाप के हिसाबों को चुकता करने के बाद मोक्ष होवे तो किसी का नहीं हो सकता। असंभव है। इसलिये जैसे यज्ञदत्त के पिछले कर्म नष्ट हो गये, जो अन्तमें किये गये वे फलदायक हो गये, इसी प्रकार जब हमें ज्ञान उत्पन्न होता है तो पूर्व के सारे कर्म हमारे क्षीण हो जाते हैं। संचित कर्म तो ज्ञानकाल में ही जल जाते हैं। प्रारब्ध कर्म अपना फल देने के लिये जरूर सुख-दुःख देते हैं। पत्थर से टक्कर लगकर मरा तो दर्द भी हुआ होगा, खून भी निकला होगा, सब कुछ हुआ होगा। ठीक इसी प्रकार हमारे प्रारब्ध कर्म फलभोग कराने के लिये राग-द्वेषादि, सुख-दुःख देने के लिये उत्पन्न करते हैं। परन्तु हम ने सत्य समझ लिया है, भगवान् शंकर को दीपदान दे दिया है। जो हमारी ज्ञानाकार वृत्ति है वही दीप है। हमारा अंतिम वस्त्र क्या होता है ? अहम् ही हमारा अंतिम वस्त्र है—अहंकारात्मिका वृत्ति। उस अहंकारात्मिका वृत्ति को हमने जला दिया, भगवान् को अर्पण कर दिया। 'शिवोऽहम्'—मैं कुछ नहीं हूँ, शिव ही मैं हूँ। शिव के सिवाय मैं और कुछ नहीं हूँ। यों हमने अपना कपड़ा जला दिया। फिर पंचामृत हमने पी लिया। पृथ्वी जल तेज वायु आकाश पाँचों अमृतस्वरूप परमात्मा से उत्पन्न हुये हैं इसलिये अमृतरूप हैं। इनको हमने पी लिया अर्थात् जो भी रूप रस गंध स्पर्श शब्द पंचतत्त्व हमारे सामने आते हैं उनको हम अमृतरूप परमात्मा समझकर ग्रहण करते हैं। अंतिम चीज हमने पंचामृत ली। अंतिम वस्तु हमारे हाथ में क्या रह गयी ? बिल्वपत्र रह गया और भगवान् का नैवेद्य। यह जो प्रारब्ध कर्म है यह नैवेद्य हमारे हाथ में रह गया। इसके ऊपर बिल्वपत्र लगा था। ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय—इन तीनों की एकरूपता को समझ कर जो मिथ्यात्व-निश्चय है वह बिल्वपत्र है। इसको जब कर लिया तो जैसे ही प्रारब्ध कर्म समाप्त हुआ वैसे ही 'क्षेमं गच्छति पण्डितः' क्षेम की प्राप्ति हो गई। इस प्रकार इन भूतदाहों के निर्हार के लिये प्रयास करना ज्ञाननिष्ठा के लिये जरूरी है। ●

प्रवचन-१४

प्रारब्ध सुख-दुःख रूप फल देता है। वह फल भोगने के लिये अपेक्षित, कर्म से आक्षिप्त राग-द्वेष आने पर यदि उस दोष का निर्हार, निर्घात योग के अर्थात् आत्मविद्या के बल से किया जाता है तब क्षेम-प्राप्ति होती है। अन्यथा वह राग-द्वेष प्रवृत्ति की तीव्रता करा कर उस ज्ञान को ढाँक देता है। जिस प्रकार आग जलाते हो : यदि पानी का प्रतिबन्धक नहीं है, लकड़ी एकदम सूखी हुई है तब अग्नि जलती रहेगी। और यदि लकड़ी के अन्दर पानी की अधिकता है तो वह लकड़ी जलती है परंतु धुएँ से ढँकी होती है, प्रकट नहीं होती। यदि लकड़ी बिल्कुल पानी में भीगी हुई है, तरबम्ब है, तब तो आग पकड़ती ही नहीं। कई बार आबू में जब बहुत पानी बरसता है तब दियासलाई के अन्दर इतना ज्यादा पानी का हिस्सा आ जाता है कि चाहे जितना रगड़ते रहो थोड़ी भी चिनगारी नहीं निकलती। कभी ऐसा होता है कि किसी ऊनी कपड़े के ऊपर पहले घिस लेते हैं, फिर जलाते हैं तो जल जाती है। जेठ के महीने में गर्मी के अन्दर जलाते हैं तो थोड़ा सा लगते ही जल जाती है। अगर बिल्कुल तरबम्ब लकड़ी है तब तो आग पकड़ती ही नहीं। इसी प्रकार जब तक इस मन के अन्दर राग द्वेष अत्यधिक भरे हुये हैं, संसार के प्रति अत्यधिक आसक्ति है, तब तक उन दोषों को क्षीण किये बिना ज्ञानरूप अग्नि जलाने का प्रयत्न किया जाये तो उसका असर होगा नहीं।

एक हमारा लड़का था। अभी भी है। वह अपनी दादी को सुनाता था—'राम नाम सत्य है'। छोटा बच्चा था तो दादी बोलती थी कि 'ऐसा नहीं बोलते।' उससे पूछता था 'क्या राम नाम असत्य है ?' वह कहती, 'अरे नहीं भाई ! लेकिन बोलते नहीं।' क्योंकि इसका उच्चारण करते ही मनुष्य को मृत्यु याद आ जाती है और मृत्यु के प्रति इतना द्वेष है कि उस बात को सुनकर ही अच्छा नहीं लगता। ठीक इसी प्रकार कहते हैं—'ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है और जगत् मिथ्या है। जगत् के प्रति जो हमारी तीव्र आसक्ति है वह कहती है कि युक्ति से जितना समझाओ लेकिन यह इतना बढ़िया जगत् कैसे छोड़ देवें? इसको कैसे मिथ्या मान लेवें?' 'जीव ईश्वर एक है' यह सुनते ही बड़ी

घबराहट होती है ! एक ही तो बड़ा भारी हमारे पास कूड़ादान है, वह है ईश्वर ! जितनी संसार की बुराईयाँ हैं वे कौन करवाता है ? ईश्वर करवाता है। कहते हैं 'भगवान् ऐसा क्यों कर रहे हैं ?' अगर पूछें 'तुम ऐसा क्यों कर रहे हो ?' तो कहता है 'भगवान् करवा रहा है।' अपने मन में स्पष्ट जानता है कि 'मैं चाहकर कर रहा हूँ।' लेकिन जो कर रहा है वह गलत है यह भी जानता है। कोई तो कूड़ादान होवे कि जहाँ इस जिम्मेवारी को फेंके। *'परमात्मा करवा रहा है।'* अगर परमात्मा करवा रहा है तो परमात्मा भुगवा भी रहा है; तुम्हें उस जिम्मेवारी का सुख दुःख भी नहीं है ! सचमुच में यह कोई अनुभव की बात नहीं कहते हैं कि 'परमात्मा करवा रहा है।' जानते हैं 'मैं कर रहा हूँ। इच्छापूर्वक कर रहा हूँ।' परन्तु कोई कूड़ादान तो चाहिये। जब वेदान्त कहता है कि 'तुम ही ब्रह्म हो' तो लगता है अरे! ऐसे तो कूड़ादान मैं ही बन जाऊँगा ! जिम्मेवारी मेरे सिर आ जायेगी। इतना ज्यादा आसक्त जगत् के प्रति अपनी कामनाओं के प्रति, अपने विकारों के प्रति जो है वह अद्वैत का उपदेश ग्रहण ही नहीं कर पाता।

यदि कुछ उसके अन्दर पानी कम है, उतनी आसक्ति नहीं है तब विचार में, विवेक में प्रवृत्त हो जाता है। विवेक-विचार में जब प्रवृत्त होगा तब क्योंकि यह प्रामाणिक ज्ञान है, प्रमाणसिद्ध है इसलिये समझ आ जायेगा, जँचेगा कि ऐसा ही है। वेदान्त का जो ज्ञान है—'ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' यह तुम्हारे अनुभव में यहीं घटाकर बताया है। इसमें कुछ *मानने* की जरूरत नहीं है। जाग्रत् में इन्द्रियों के द्वारा विषयों का अनुभव करने वाला मैं—यह तुम्हारा अनुभव कह रहे हैं। कोई ऐसी बात नहीं कह रहे हैं जो अजीबोगरीब हो। स्वप्न के अन्दर बिना आँख, बिना कान, बिना किसी इन्द्रिय के तुम स्वप्न देखते हो। देखने वाले तुम। यह कोई नई बात नहीं कह रहे हैं। रोज कहते हो 'आज मैंने सपना देखा था।' कैसे देखा था ? कमरे में तो अंधेरा था, घरवाली जाग रही थी, बिजली उसने जलाई नहीं थी, तब फिर कैसे देखा था ? कहते हो 'वहाँ कोई आँख से थोड़े ही देखा था।' जब तुम ही कहते हो कि 'बिना इन्द्रियों के मैंने स्वप्न देखा' तो हम तुम्हें कोई नई बात नहीं कह रहे। फिर कहते हो, 'मैं बड़ी गहरी नींद में सोया। आज तो ऐसी नींद आयी कि तीन घंटे तक कुछ पता नहीं चला, बड़ा मजा आया, ताजा हो गया।' हम जब कहते हैं कि तुम सुषुप्ति

के साक्षी हो तो कोई नई बात नहीं कह रहे हैं। यह तुम्हारा अनुभव है उसी को कह रहे हैं। केवल हम तुम्हारा ध्यान किधर दिलाते हैं ? जाग्रत् में तुम अनुभव कर रहे थे, स्वप्न में तुम अनुभव कर रहे थे तो क्या दोनों अनुभव करने वाले तुम ही थे ? कहोगे 'हाँ, वह हम ही थे।' जाग्रत् में शरीर इन्द्रिय के साथ थे और स्वप्न में शरीर इन्द्रिय के साथ नहीं थे। जाग्रत् में सूर्य चंद्र के काल के साथ थे, स्वप्न में सूर्य चंद्र के काल के साथ नहीं थे। इनके साथ भी अनुभव करने वाले तुम हो, इनके बिना भी अनुभव करने वाले तुम हो, तो जरूर इन दोनों उपाधियों से तुम भिन्न हो। उपाधि तुम ने धारण की है यह मना नहीं कर रहे हैं लेकिन तुम वह हो *जिसने* जाग्रत् में इन्द्रियों से देखा, तुम वह हो जिसने स्वप्न में बिना इन्द्रियों के देखा। आगे तुम ही वह हो जिसने मन इत्यादि सारी चीजों के अभाव को सुषुप्ति के अन्दर जाना क्योंकि तुम ही कह रहे हो 'मैं वहाँ सुख से सोया। मैंने वहाँ कुछ नहीं जाना।' मन के रहते, इन्द्रियों के रहते जानने वाले भी तुम। इनके नहीं रहने पर यह सब कुछ नहीं है इसको भी जानने वाले तुम। कोई बात ऐसी नहीं है जो तुम्हारे अनुभव की न हो 'जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादि प्रपंचं यत् प्रकाशते' जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति—इन तीनों को जो जानने वाला है– 'तद् ब्रह्माहम् इति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते' वह मैं हूँ बस इस बात का ज्ञान ही ब्रह्मज्ञान है। इस ज्ञान से सारे बंधनों से छूट जाते हो, मुक्त हो जाते हो। इन सारे अनुभवों से तुम्हारी ब्रह्मरूपता को बतला रहे हैं, कोई ऐसी बात नहीं कह रहे जो तुम्हारे अनुभव की नहीं हो।

इसी प्रकार मिथ्या वह चीज होती है जिसका स्वरूप निश्चित नहीं होता है। कभी कुछ, कभी कुछ—यही झूठ का सीधा-सादा लक्षण होता है। क्या संसार में कोई पदार्थ ऐसा है जो कभी कुछ और कभी कुछ न होता हो? घड़ा कल नहीं था, आज है, कल फूट जायेगा। तो घड़ा कभी है कभी नहीं है। एकरूप नहीं कह सकते हो कि घड़ा है ही या घड़ा नहीं ही है। संसार के सारे पदार्थों पर विचार कर लो तो क्या कोई चीज ऐसी मिलती है जो कभी है और कभी नहीं है न होती हो ? जो बदलता है वह झूठ होता है। यह बदल रहा है यह प्रत्यक्ष से तुम्हें दीख रहा है। इसमें कोई बात ऐसी नहीं कह रहे हैं जो समझ में न आवे, जो तुम्हारे अनुभव की न हो।

जो चीज बदलने वाली हुआ करती है वह सच नहीं हुआ करती। बस यही तो कह रहे हैं। अगर तुम्हारे मन में इतनी ज्यादा आसक्ति है कि 'राम नाम सत्य है' सुनते ही मृत्यु याद आवे, *क्या* कह रहे हैं वह समझ ही नहीं आवे, तब तो वेदांत ग्रहण नहीं होगा। सब जानते हैं कि यह जगत् जैसा हमें दीखता है वैसा नहीं है परन्तु आसक्ति वाला कहता है 'ऐसा बोलो मत', जैसे 'राम नाम सत्य है' बोलो मत।

कल ही कहीं गये हुये थे। बात चल रही थी कि संसार में चेतन को ही क्यों सुखी होना है ? सुख दुःख का अनुभव पत्थर तो करते नहीं, चेतन ही करता है। प्रश्न हुआ कि यदि चेतन दुःखी होकर काम नहीं करेगा तो उन्नति कैसे होगी ? जब हममें यह आसक्ति है कि ईंट पत्थर जितने जुड़ें उतनी उन्नति हुआ करती है, तब प्रश्न होता है कि यदि चेतन सुखी रहे तो क्या फायदा, यदि ईंट पत्थर नहीं जोड़े गये ! ईंट पत्थर के प्रति आसक्ति ही यह प्रश्न कराती है। अन्यथा सारे कार्यों का उद्देश्य चेतन को सुखी करना है। यदि चेतन सुखी हो रहा है तो बात खत्म हो गई। सुख किसको होना है, उन्नति किसकी होनी है ? ईंट पर ईंट सजाने से ईंट को तो कोई सुख है नहीं। परन्तु जो हमें पदार्थों के प्रति आसक्ति है वह इस सत्य को ढाँक देती है।

अत्यधिक राग काल में सत्य को मन पकड़ता ही नहीं। जहाँ इतना अधिक राग नहीं है वहाँ कुछ विचार विवेक करता है। चूँकि यह ऐसी अनुभव की चीज है इसीलिये बात याद तुरंत आ जाती है, समझ में आ जाती है, अपरोक्ष अनुभव हो जाता है। परन्तु साथ में राग पड़ा हुआ है, लकड़ी बिल्कुल सूखी हुई है नहीं तो आग रहते हुये ही वह धुआँ छोड़ती रहती है और धुएँ से ढँक जाती है। उसी प्रकर तुम्हारे अन्दर जो प्रारब्ध कर्म के भोग से आक्षिप्त राग हैं वे फिर प्रवृत्ति की अधिकता करा कर धुएँ से आग की तरह उस विचार को ढाँक देंगे। यह अनुभव आप लोगों में से अधिक लोगों का है। कहते हैं 'महाराज ! यहाँ तो बात समझ में आती है पर दुकान में पहुँचते हैं तब तक गड़बड़ा जाते हैं।' आग तो पकड़ ली है; ज्ञान नहीं हुआ है ऐसी बात नहीं है, अपरोक्ष हुआ है; परन्तु जो राग-द्वेष के दोष हैं उनसे उसे प्रवृत्तिरूप धुआँ ढाँक लेता है। आग तो जल रही है लेकिन आँख मसलते रहोगे, दुःखी होते रहोगे। इसीलिये यहाँ कहा

'भूतदाहीयान्' आँख जलाने वाले ये दोष हैं जैसे आग की मौजूदगी में भी आँख को जलाने वाला धुआँ।

उत्तमाधिकारी वह होगा जिसके अन्दर राग सर्वथा नहीं है। मध्यमाधिकारी वह होगा जिसके अन्दर राग काफी कम है। मन्दाधिकारी वह है जो अधिकतर हम लोग हैं ! इसलिये हम लोगों को इस दोष के निर्घात के लिये प्रयत्न करना पड़ता है।

अब आपस्तम्ब महर्षि कहते हैं **'अथ'**—यहाँ तक तत्त्वके विषय में प्रतिपादन कर दिया। इस ज्ञान को पहले निश्चय बना लेना चाहिये। पूर्व श्लोक में बतला दिया था कि इस ज्ञान से अन्य जो दोषों के निर्घात का प्रयत्न होगा वह समूल उन दोषों को नष्ट नहीं करेगा। दूसरे साधनों से इन दोषों को दबाया जा सकता है, जलाया नहीं जा सकता। इसलिये कहा 'अथ'—अर्थात् परामात्मतत्त्व के बारे में निश्चय होने के बाद।

'भूतदाहीयान्' अब जो ये भूतदाह करने वाले दोष हैं उनको **'उदाहरिष्यामः'** उनके कुछ उदाहरण देते हैं।

राग द्वेष के विषय तो अनन्त होते हैं। इसलिये यह कह नहीं सकते कि बस ये ही दोष हैं, कोई दूसरे दोष नहीं हैं। परन्तु ये प्रधान हैं इसलिये उनको हम पहले उदाहरणरूप में कहते हैं; आगे *इत्यादि* तो समझ ही लेना। उदाहरण का मतलब ही होता है कि सौ चीजें हैं उनमें से दो चीजों को हमने उत् मायने ऊपर, आहरण कर लिया—ऊपर उठा लिया। उन दो को हमने कह दिया और बाकि जो वहाँ हैं सब समझ लिये गये। उदाहरण का अर्थ ही होता है उत् ऊपर की तरफ, आहरण—उठा लेना। जैसे तुम अगर गेहूँ खरीदने जाते हो तो गेहूँ की बोरीमें गेहूँ वाला बर्तन डालता है और उसमें से निकालता है। बोरी में से २५-५० दाने निकल आते हैं। उनको देखते हो। देखकर तुम्हें निश्चय हो जाता है कि इसके अन्दर इसी प्रकार के गेहूँ हैं। यह पुराने जमाने की बात है। आज के जमाने में तो लोग गेहूँ खरीदते हैं, ऊपर से सील बन्द होता है ! और कई तो ऐसे हैं जो इतने आलसी हैं कि आटा ही खरीदते हैं, गेहूँ भी नहीं ! वह कैसे गेहूँ का आटा बना होगा यह भगवान् ही जाने। भगवान् की कृपा से लोगों की जीभें भी अब सब मजबूत हो गई हैं। उनको भी पता नहीं लगता। कई बार जब फुलका पकाते हैं तो हम पूछते हैं कि 'भाई ! यह क्या बहुत पुराना गेहूँ

था ?' तो कहते हैं 'जी, शक्तिभोग है।' हम समझ लेते हैं कि इनको पुराने और नये गेहूँ का पता नहीं। कहाँ पिसा, किस कंपनी का था, इससे क्या मतलब ? तो जैसे गेहूँ का नमूना देखते हैं इसी प्रकार अनन्त दोष हैं परन्तु उनमें से हम कुछ निकाल कर बतला देते हैं जो प्रधान हैं—

'क्रोधो हर्षो रोषो लोभो मोहो दम्भो द्रोहो
मृषोद्यमत्याशपरीवादावसूया काममन्यू अनात्म्यम्
अयोगस्तेषां योगमूलो निर्घातः।।'

उदाहरण में सबसे पहले कहा—**'क्रोधः'** सबसे पहले क्रोध को गिनाया क्योंकि सबसे ज्यादा तीव्रता क्रोध की होती है। क्रोध की तीव्रताके अन्दर विवेक विचार सर्वथा स्तब्ध हो जाता है। अन्यत्र आचार्य शंकर लिखते हैं 'गुरुमपि हुं करोति तुं करोति' पूज्य जो माता पिता आचार्य हैं उनको भी 'हुँः, तू' ऐसी बात बोलता है। उनको भी हुंकार और तुंकार कर देता है। जब क्रोध आता है तब स्वयं अपना भी नुकसान करता है।

अश्वत्थामा और कर्ण दोनों दुर्योधन के अत्यन्त घनिष्ठ मित्र भी थे और अच्छी तरह से कार्य करने वाले भी थे। इन दोनों के ऊपर बड़ा भारी भरोसा दुर्योधन को था। महाभारत युद्ध के पूर्व एक प्रसंग में दोनों में कहा-सुनी हो गई। थे तो दोनों ही युद्ध करने वाले। कहा-सुनी में अश्वत्थामा ने कह दिया, 'क्या तू ऐसी बात करता है ! आ जा मैदान में। अभी लड़कर निर्णय कर लेते हैं।' अश्वत्थामा के ऐसे कहने पर कर्ण को क्रोध आया, परन्तु कुछ मर्यादा मानता था। कुछ अश्वत्थामा से डरता भी था क्योंकि अश्वत्थामा के पास ऐसे दिव्य अस्त्र थे जो कर्ण के पास नहीं थे। दोनों ही बातें थीं, क्रोध भी था और भय भी था। अतः कर्ण ने कहा, 'दिखा तो मैं अभी तुझे दो मिनट में देता, युद्ध में उतर आता, पर क्या करूँ ! तू ब्राह्मण है और ब्राह्मण पर मैं हथियार चलाना नहीं चाहता।' क्रोध तो भयंकर होता है। अश्वत्थामा को बड़ा गुस्सा आया हुआ था। अश्वत्थामा ने खट से अपनी जनेऊ ली और तोड़ दी और बोला 'गया मेरा ब्राह्मणपना। अब आ जा।' तब तक दुर्योधन और अन्य लोगों ने आकर दोनों को अलग किया, 'अरे भाई ! अब थोड़ा ठंडा हो जाओ। ऐसे नहीं करो। आगे महाभारत का युद्ध आ रहा है। तुम लोग ऐसे झगड़ा करने लगे तो कैसे होगा ?' मनुष्य क्रोध के अन्दर अपने ब्राह्मणत्व को भी छोड़ने को तैयार

हो जाता है, क्रोध ऐसी चीज होती है।

क्रोध का रूप बतलाते हुये आचार्य शंकर कहते हैं—

'ताडनाक्रोशनादिहेतुः अन्तःकरणविक्षोभो गात्रस्वेदकम्पनादिलिंगः।'

कहते हैं क्रोध मन का विक्षोभ है। क्षोभ कहते हैं जब कोई चीज हिलती-डुलती है जोर से। उसका नाम क्षोभ है। जैसे तुम घड़े में पानी भरकर चलो तो घड़े का पानी हिलता-डुलता है, घड़ घड़ आवाज होती है। उसीको क्षोभ कहते हैं। अंतःकरण के अन्दर क्षोभ होता है। क्षोभ भी दो तरह का होता है—एक तो थोड़ा सा हिला और बन्द हो गया। हलकी सी हवा चली तालाब का पानी है, बहुत ज्यादा पानी है, हवा के चलने से थोड़ा सा हिला, फिर वहीं रुक गया। क्षोभ तो हुआ परन्तु क्षणिक, तुरंत बंद हो गया। परन्तु बड़े जोर की हवा चल गई तो *विक्षोभ* हो गया। बड़े जोर से तालाब की लहरें ऊपर नीचे होने लगीं। समुद्र के अन्दर एक-एक फर्लांग ऊँची लहरें उठती हैं। क्षोभ और विक्षोभ का फर्क समझ लेना : हवा चलनी तो बन्द हो जाती है लेकिन अब जो वह विक्षोभ हो गया है वह उसके घंटे-दो घंटे बाद ही रुकता है, समुद्र शांत होता है। कारण दूर हो गया फिर भी क्षोभ बना रहा, तब उसको कहेंगे विक्षोभ। इसी प्रकार तुमने हमें गाली दी। गाली का हमने अर्थ समझा। अर्थ समझने से मन के अन्दर क्षोभ तो हुआ ही : 'इसने मुझे गाली दी' क्षोभ हुआ। गाली वह एक बार देगा, दो बार देगा। गाली भी कितनी ? लम्बी से लम्बी गाली होगी तो आधे मिनट में बोल देते होंगे, एक मिनट में भी बोल देते होंगे ! उतना समय भी नहीं लगता। उतनी देर सुनी तब तक तो क्षोभ है। गाली देने वाला तो गाली देकर चला गया अथवा वहाँ चुप बैठा भी हुआ है; हवा चलनी तो बन्द हो गयी। जब तक वह गाली दे रहा था तब तक क्षोभ था। अब उसके बाद जो लहर उठी वह शांत नहीं होती है : 'क्यों गाली दी? कैसे गाली दी ? इसको तो ठीक कर सकता हूँ, यह होता कौन है ! इसको यह कर सकता हूँ !' उसने तो गाली देना बंद कर दिया परन्तु तुम्हारा विक्षोभ चल रहा है। प्रारब्ध कर्म का भोग जब तुम्हारे पर किसी दोष का आक्षेप करेगा तब क्षोभ होगा। जब तक गाली सुन रहे हो तब तक का क्षोभ प्रारब्ध कर्म का है। परन्तु जब उसने गाली देना बंद कर दिया उसके बाद जो विक्षोभ कर रहे हो वह प्रारब्ध का फल *नहीं* है। तुम अब उसको जबरदस्ती

चला रहे हो। यह है अन्तःकरण का विक्षोभ।

वह विक्षोभ क्या करता है यह भी बतला देते हैं 'ताडनाक्रोशनादिहेतुः'—दूसरे की थप्पड़ मार दो, घूँसा मार दो, ताडन करो। या आक्रोश करो, जोर से चिल्लाओ, जोर से बोलो। ग्रामीण आदमी होता है वह थप्पड़ जल्दी मारता है। पढ़ा-लिखा थप्पड़ नहीं मारता, खाली जोर से चिल्लाता है—'क्या बोल रहा है ? क्या कर रहा है ?' जोर से बोलता है। इसके आगे एक *आदि* आचार्य ने जोड़ दिया। 'ताडनाक्रोशनादिहेतुः'; कई लोग जब तुम गाली दो, बुरी बात कहो, तो कहते हैं 'बोल दो भाई; तुम्हारी मर्जी है।' लोग सोचते हैं इनको गुस्सा नहीं आया। वह है मजिस्ट्रेट। थोड़े दिन के बाद उसके सामने तुम्हारा बेल का मुकदमा चला गया, तुम्हारी जमानत का। वह जमानत तुम्हें दिला सकता है। वह सोचता है, 'अच्छा आज पकड़ में आया है !' और जमानत नामंजूर : 'तुरंत इसको हवालात में अन्दर किया जाये। आज से पन्द्रह दिन की तारीख पड़ गई, उस दिन विचार होगा।' पन्द्रह दिन के लिये तुम बन्द हो गये। उसने कोई ताडन भी नहीं किया आक्रोश भी नहीं किया लेकिन यह कार्य किसका है ? वही अंतःकरण के विक्षोभ का। जो तुमने उसे गाली दी थी वह वहाँ बैठी हुई अपना काम कर रही थी। जब मौका आया तब उसने असर कर दिया।

इस प्रकार क्रोध हुआ अंतःकरण का ऐसा विक्षोभ जो ताडन, आक्रोश आदि से किसी न किसी प्रकार से उस व्यक्ति की हानि करने के लिये प्रयत्न करवाता है। और यह शरीर में भी प्रकट होता है। क्रोध आता है तो शरीर में पसीना आने लगता है, काँपने लगता है, होंठ फड़फड़ाने लगते हैं। उस समय गुस्से में गाली भी ठीक-ठीक शुद्ध उच्चारण से नहीं निकलती! उसमें भी उच्चारण की गलती कर लेता है क्योंकि होंठ काँप रहे होते हैं उस समय। थप्पड़ भी मारता है तो ठीक नहीं मार पाता क्योंकि क्रोध के अन्दर हाथ भी पूरी तरह से थप्पड़ नहीं मारता। आँखें फड़कने लगती हैं, नाक फूल जाता है, चेहरा लाल हो जाता है। इन सब चिह्नों से क्रोध का पता लग जाता है।

क्रोध करता क्या है यह भी बतला दिया, उसके चिह्न क्या हैं यह भी बतला दिया। ऐसी जो वृत्ति है, यह जो क्रोध है इसको इसीलिये सबसे पहले गिनाया क्योंकि यह सबसे प्रबल है। इसकी तीव्रता इतनी ज्यादा

होती है कि मनुष्य रोक नहीं सकता। अधिकतर लोगों का यही प्रश्न होता है कि 'महाराज गुस्सा आता है उसको रोकें कैसे ?'

थोड़े दिन पहले आबू में एक रेल के इंजन को चलाने वाला ड्राइवर आया। अपना ही भक्त है। उसी समय कानपुर के पास नीलाचल एक्सप्रेस का बड़ा एक्सीडेंट हुआ था। अब होते ही रहते हैं ! ये एक्सीडेंट कोई बड़ी बात नहीं रह गयी है क्योंकि उन्नति हो रही है। जब हमारी अवनति का काल था तब एक एक्सीडेंट होता था तो लोग घबरा जाते थे; एक एक्सीडेंट होने पर लाल बहादुर शास्त्री ने इस्तीफा दे दिया कि 'मेरा काम ठीक नहीं। मैं पूरी तरह से सँभाल नहीं सका।' तब हम अवनति के काल में थे। अब हम उन्नति के काल में हैं। अब एक्सीडेंट हो जाये तो हमारे मिनिस्टर साहब कहते हैं 'एक्सीडेंट तो होते रहते हैं, उसकी हम पर जिम्मेवारी कैसे आ गई ?' गाड़ियाँ चलती हैं—वह सब मिनिस्टर साहब की कृपा से। एक्सीडेंट हो जाये तो उसकी जिम्मेवारी उनकी कहाँ है ! वह ड्राइवर रेल का इंजन चलाता है। हमने उससे पूछा कि 'भाई ! आजकल इतने एक्सीडेंट क्यों होते है। ?' उसने हमें दो कारण बताये। एक तो उसने कहा कि पहले होता था सिग्नल, वह नीचे होता था या खड़ा होता था तो दूर से ही पता चल जाता था। उसी के हिसाब से गाड़ी का नियंत्रण हो जाता था। अब इन्होंने सिग्नल हटा कर वहाँ पर हरी और लाल बत्ती लगा दी है। अब जब दूर से गाड़ी आ रही होती है और धुंध होती है तो वह बत्ती धुंध के कारण दीखती नहीं। कई बार दिन में ऐसा हो जाता है कि सूर्य की किरणें इस ढंग से पड़ती हैं कि यह पता नहीं चलता कि लाल जल रही है कि हरी जल रही है। जब उसके पास पहुँचते हैं और वह दीखती है तब ब्रेक मारते हैं। वह कह रहा था कि ये जो तेज गाड़ियाँ हैं इन्हें रोकने में कम से कम दो फर्लांग लगते हैं। यहाँ ब्रेक मारो तो दो फर्लांग पर गाड़ी रुकेगी। इतनी उसे रोकने में दूरी चाहिये। ४४० गज की जगह नहीं होवे तो सही जगह नहीं रुकती। वह लाल बत्ती तो कह रही है कि यहाँ रुको और *यहाँ* है ४४० गज आगे, ब्रेक मारने के बाद ! यह तो उसने कहा एक कारण। दूसरा कारण है : नियम यह है कि दिल्ली से चलकर गाड़ी कलकत्ते गई तो कलकत्ते में उसके ब्रेक की फिर से चैकिंग होती है क्योंकि वे ब्रेक घिस जाते हैं। उनको ठीक कर फिर वहाँ से गाड़ी

चालू की जाती है। दिल्ली आयेगी, फिर दिल्ली में चेकिंग हो जायेगी। हजार किलोमीटर चलने पर ब्रेकों को देख लेना पड़ता है। वह बोला 'हम स्टाफ से कहते हैं 'देखो' तो वे लोग कहते हैं कि 'चलाओ; इतना समय कहाँ है देखने के लिये।' अतः एक चेकिंग के बाद दो-तीन बार आयेंगे जायेंगे।' उसने कहा 'हम लोगों को पता तो लगने लग जाता है कि ब्रेक ठीक नहीं लग रहा है। जब हम कहते हैं कि ब्रेक ठीक नहीं लग रहा है तो स्टेशन मास्टर कहता है कि 'ऐसा कोई एक्सीडेंट तो हो नहीं जायेगा। ले जाओ। हमारे पास ब्रेक का वह पुर्जा ही नहीं है तो क्या किया जाये।' पहले तो हमारा ब्रेक ठीक नहीं, फिर हमें सिग्नल की बत्ती दीखती नहीं।' यह गलती फिर किसकी कही जाये ? घूम फिर कर यह गलती तुम लोगों की है। तुम लोग टैक्स कम देते हो इसलिये वह ब्रेक के पैसे नहीं आते ! और यह तो पता ही है कि जब दस रुपया टैक्स दोगे तो नौ रुपये पचास पैसा मिनिस्टर साहब के खर्चे में निकलने ही हैं। अब ५० पैसे बचते हैं; यह संभव नहीं होता है कि उसमें ब्रेक वगैरह लगाये जायें। गाड़ियाँ बढ़ानी ही हैं, तेज चलानी ही हैं। यदि तुम्हारी गाड़ी का ब्रेक ठीक नहीं है तो सुरक्षा का यह उपाय है कि गाड़ी की गति नहीं बढ़ाओ, ४०-५० मील की गति से चलाओ, तब दस-बीस गज के अन्दर वह गाड़ी खड़ी हो जायेगी। उतनी दूर से तो स्टेशन आँख से भी दीख जायेगा। और तुम्हारा सिग्नल ऐसा होवे कि दूर से दिखाई देवे। दो तरीके हैं जिनसे टक्करें बचायी जा सकती हैं।

इसी प्रकार हम व्यवहार की गाड़ी चला रहे हैं। अंतःकरण हमारा इंजन है। पहले भी एक दिन बतलाया था कि सूक्ष्म शरीर मानो मोटर का इंजन है। या तो सिग्नल दूर से दीखने वाला हो। भगवान् ने दूर का सिग्नल बतला दिया—'संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोभिजायते।' भगवान् ने कहा—क्रोध उत्पन्न होता है कामना से और कामना उत्पन्न होती है विषयों के साथ आसक्ति करने से। इसलिये जब विषय में तुम्हें आसक्ति हो रही हो वहीं रोको। जैसे ही किसी चीज को देखकर आसक्ति आती है कि 'यह मेरी होवे' तो वहीं पर रोक लो। उसका दोष-दर्शन करो 'यह लेकर मैं क्या करूँगा ?' दूर से तुम्हें दीख गया, गाड़ी को रोक दिया। अगर तुम क्रोध रोकना चाहते हो तो आसक्ति को रोको। प्लेट लेकर के नौकर जा रहा है। यह प्लेट आई है कहीं आस्ट्रेलिया से। चालीस-चालीस हजार रुपये के सेट आते हैं क्रॉकरी के। है तो वह मिट्टी ही मिट्टी, झट टूटती है। क्रिस्टल के, बढ़िया काँच के ग्लास आयेंगे। है तो काँच ही, टूटेगा जब गिरेगा। तुम क्रोध को बचाना चाहते हो कि नौकर के हाथ से गिरे और तुम्हें क्रोध न आवे। गिरने पर तुम रुकावट करना चाहो तो नहीं कर सकते। जब तुम्हारे पास वह क्रॉकरी आई, क्रिस्टल आया तभी तुम विचार कर लो कि 'यह टूटने वाली चीज है। इसलिये इसके प्रति मैं आसक्ति नहीं करूँगा।' उसको टूटी हुई ही समझो 'यह काँच ही तो है।' दूर से सिग्नल देख लिया और वहीं से गाड़ी को रोक दिया तो अक्रोध संभव है। अथवा यदि सिग्नल नहीं है तो गाड़ी को तेज मत चलाओ। तेजी देने वाली चीज है कामना। जिस कार्य के प्रति जितनी कामना होगी उतना ही उस पदार्थ के निमित्त से क्रोध आयेगा। इसलिये कामना की तेजी को रोकोगे तो क्रोध की तेजी रुकेगी। दस रुपये वाली क्रॉकरी भी आती है। यदि दस रुपये वाली क्रॉकरी तुम्हारे पास है और नौकर से टूट जायेगी तो वैसा क्रोध नहीं आयेगा जैसा हजार रुपये के सेट वाले पर आयेगा। इसी प्रकार दस रुपये वाला भी काँच का गलास आता है, हजार रुपये वाला क्रिस्टल ग्लास का भी आता है। हजार वाला टूटेगा तो जितना क्रोध आयेगा उतना दस रुपये वाला गलास टूटने पर नहीं आयेगा। तुम अपनी तेजी इतनी कम रखो कि उससे होने वाला जो क्रोध हो वह थोड़ा-सा विचार करने से काट सको। यह तभी होगा जब वह क्रोध तेज नहीं है। गाड़ी की तेजी रोको या सिग्नल बिल्कुल ठीक करो। अगर दोनों नहीं कर सकते हो तो एक्सीडेंट होना ही है। यदि आसक्ति नहीं छोड़ोगे, विषय की ओर तेजी रखोगे, ज्यादा से ज्यादा विषय रखोगे और फिर पूछोगे कि 'महाराज ! हम क्रोध नहीं जीत पाते' तो कैसे जीतोगे ? इसलिये कहा—जब क्रोध के अन्दर अंतःकरण विक्षुब्ध हुआ होता है उस समय न जगत्-मिथ्यात्व का विचार कर सकते हो, न अपनी ब्रह्मस्वरूपता का विचार कर सकते हो। उस धुएँ में तो फिर आँखें ही मलोगे !

और क्या दोष हैं यह आगे कहेंगे।

प्रवचन-१५

प्राणियों को ताप देने वाले जो दोष हैं उनको उदाहृत करते हुए पहला बतलाया क्रोध। अगला है **हर्ष**। क्रोध से विपरीत है हर्ष। हर्ष दो चीजों से होता है—पराभिभव-निमित्तक और अभीष्टलाभ-जनित। गीता में आता है—'तस्य संजनयन् हर्षम्'; वहाँ पर बतलाया कि जो शंख का निनाद किया गया उसने क्या उत्पन्न किया ? हर्ष। उस शंखनाद के द्वारा यह बताया कि शत्रु का अभिभव होगा। शत्रुओं का नाश करने से भी हर्ष होता है। शत्रु एक अनिष्ट पदार्थ है। वहाँ केवल शत्रु नहीं कहा है, *पराभिभव* कहा है—जो भी अपना विरोधी है, वह चाहे पदार्थ हो, चाहे व्यक्ति हो। पदार्थ का अभिभव—अगर हमको किसी ने जहर पिलाया और वह जहर हमारे ऊपर असर नहीं कर पाया तो भी हर्ष होता है। अथवा किसी ने हमको कड़वी बात कही परन्तु कड़वी बात कहने पर भी यदि हमारा चित्त क्षुब्ध नहीं हुआ तो भी हमें हर्ष होता है कि देखो इस बात को सुनकर भी मुझे दुःख नहीं हुआ! पदार्थ हो, भाव हो अथवा कोई शत्रु हो, जैसे गीता का प्रसंग शत्रु का ही है, सभी पर हो गये। उनका अभिभव होगा इस बात का हर्ष। जो ऐसी दूसरी चीज है जिसमें हमें अनिष्टबुद्धि है, वह चाहे पदार्थ हो चाहे व्यक्ति हो, उसका जब अभिभव होता है, वह जब दबता है, हारता है, पराजित होता है, तब जो उत्पन्न होता है उसको हर्ष कहते हैं।

इसी प्रकार *अभीष्टलाभ-जनित,* जो हमें इष्ट पदार्थ है उसका लाभ हो जाये : रसगुल्ला खाने को मिल जाये, सर्दी के मौसम में पशमीना ओढ़ने को मिल जाये। यह अभीष्टलाभ हुआ। इसी प्रकार अपना प्रिय व्यक्ति अकस्मात् मिलने आ जाये तो हर्ष हो जाता है। अपने को कोई प्रशंसा के वाक्य कह देवे तो भी मनुष्य को हर्ष होता है। ये सब अभीष्टलाभ-जनित हुये। हर्ष उत्पन्न किससे हुआ ? अभीष्टलाभ और अनिष्ट की निवृत्ति से यह उत्पन्न होता है।

इसका पता किससे लगता है ? 'बाष्परोमाञ्चनादिलिङ्गः'; जब अत्यधिक प्रसन्नता होती है तब आँखें भर आती हैं, रोएँ खड़े हो जाते हैं,

रोमांच हो जाता है। रोज महिम्न के पाठ में कहते हैं कि जिस समय ओंकार का ध्यान करते हैं उस समय में हमारी आँखें भर आती हैं। रावण भी प्रार्थना करते समय भगवान् से कहता है कि कब ऐसे दिन आयेंगे जब हे भगवान् शंकर ! आपको देखते हुये मेरे जो नेत्र हैं वे बाष्प से पूरित होकर चंचल हो जायेंगे ! जिनके सिर के ऊपर चन्द्रमा है उनको देखते हुए मेरी ऐसी स्थिति कब होगी ! जब आँखें बाष्प से भर जाती हैं तब चंचल हो जाती हैं, इधर-उधर होने लगती हैं। इसी प्रकार हर्ष के अन्दर रोमाञ्च हो जाता है, रोयें खड़े हो जाते हैं। यह अनुभव उन्हीं को होता है जिन्होंने जीवन में सचमुच किसी चीज के प्रति सद्भावना को किया हो। अन्यथा बहुतों के हृदय तो अश्मसार होते हैं। ऐसे पत्थर के बने होते हैं कि कैसी भी प्रसन्नता होवे, उनकी आँखों में न बाष्प आयेगा, न उनको रोमाञ्च होगा। विदेशों में इसे सभ्यता का लक्षण माना जाता है, भावना प्रकट न होवे इसको सभ्यता का लक्षण मानते हैं। हम लोग इसको अत्यन्त कठोर हृदय होने का लक्षण मानते हैं। यह इसलिये कहते हैं कि रोमाञ्च आदि की बात आजकल लोगों को जब सुनाते हैं तब लोगों को लगता है कि ऐसा थोड़े ही होता होगा। किन्तु होता ऐसा ही है। हर्ष अभीष्टलाभ-जनित है, बाष्प-रोमाञ्चनादिलिङ्गक है—ये उसका चिह्न हैं जिनसे यह प्रकट होता है।

इस हर्ष को भी यहाँ भूतदाहीय दोष बताया। दोष तो यह है ही। शास्त्रकारों ने स्पष्ट कहा है—

'हर्षामर्षभयोद्वेगैर्वियुक्तः स सुखी नरः'

हर्ष, अमर्ष, भय, उद्वेग इनसे रहित जो होता है वह ही सचमुच सुखी रहता है। यहाँ सुखी मतलब आनन्द से रहता है। अतः यह दोष है इसमें तो संदेह ही नहीं। यह भूतदाहीय कैसे है ? विक्षेप करता है इसलिये दोष तो है ही, परन्तु दोष होने के साथ यह दाह तो नहीं करता। इसमें तो बल्कि ठंडक हो जाती है ! लोग कहते भी हैं, 'उसकी बात सुनकर छाती ठंडी हो गयी।' फिर आपस्तम्ब महर्षि इसे भूतदाहक कैसे कह रहे हैं ? दोनों में फर्क समझना जरूरी है। चित्त को विक्षुब्ध करने वाला होने से परित्याग के योग्य है अतः दोष कहना तो ठीक है परन्तु दाहक कैसे कहा गया ? भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर बतलाते हैं कि हर्ष होने से क्या होता है ? 'हृष्टो दृप्यति'—जब अपने शत्रु का पराभव हो जाता है तब नतीजा

यह होता है कि मनुष्य के अन्दर दर्प आता है, 'मैं बड़ी सामर्थ्य वाला हूँ' यह भावना आती है। इसी प्रकार यदि कोई इष्ट पदार्थ की प्राप्ति हो गयी—दस अरब का टेंडर लेने गये और सोचा था कि इसमें पचास करोड़ घूस देनी पड़ेगी परन्तु उस अफसर ने एक पैसा भी नहीं लिया और वह टेंडर दे दिया। पचास करोड़ का फ़ायदा हो गया। तो दर्प होता है कि 'मैं कैसा बुद्धिमान् हूँ ! अफसर से ऐसी बात की कि मेरा रौब मान गया।' 'दृप्तो धर्ममतिक्रामति'—जहाँ मन में अपनी सामर्थ्य का बोध आता है वहीं वह धर्म का अतिक्रमण करता है—'मैं ऐसा कर लूँगा तो मेरा कोई क्या कर सकता है ?' धर्म का अतिक्रमण कराने के कारण उसको जलाने वाला कहा है।

जैसे अनेक जगहों पर दुकानों के अन्दर आग लगती है। वहाँ *आग* तो कुछ नहीं है। क्या है ? बिजली है; और बिजली के तार जोड़ने में तुम लोग हमेशा सारी महँगाई निकालते हो ! जैसे घर के अन्दर सारी महँगाई निकाली जाती है सब्जी के भाव में, 'साग में बहुत खर्चा करते हो जी।' अरे साग में, दाल में, खाने में बचा लोगे तो कितना बचा लोगे ? कहते हैं 'हम तो वनस्पति घी खाते हैं। ज्यादा दाम देकर भी जो घी मिलता है उसमें वनस्पति तो होता ही है। कहाँ शुद्ध मिलता है ? तो फिर महँगा घी खरीदा ही क्यों जाये ?' हमारे एक स्वामीजी थे। हमसे कई बार कहते भी थे, 'स्वामीजी यह केवल आपका बहम है, आता तो वनस्पति घी ही है। सब मिला हुआ होता है।' हमने उनसे कहा, 'हमने आपकी बात मान ली।' उस समय १७ सेर का कनस्तर आता था। हमने कहा, 'आधा मिला देगा। हमने आपकी पूरी बात मान ली। बिल्कुल नकली है। पर आधा तो देगा सच्चा ? साढ़े आठ किलो तो पेट में अच्छा घी ज़ायेगा; साढ़े आठ खराब जायेगा। कुछ अच्छा तो गया !' लोग कहते हैं, 'पैसे तो चले गये।' जैसे घर के अन्दर खर्चे की बात आती है तो किस पर कसाई करो ? भोजन पर करो, साग-दाल पर करो। वह कसाई करने से फायदा तो कुछ नहीं। इसी प्रकार दुकानों के अन्दर लगायेंगे दो सौ लट्टू—जगमग करना चाहिये, दंडे लगने चाहिये, neon (निओन) लगना चाहिये, mercury lamp (मर्करी) लगना चाहिये, show (शो) आना चाहिये—पाँच-पाँच सौ के लगायेंगे। और पैसे की कसाई कहाँ होगी ? तार मत बदलो, तार को जोड़

दो और जोड़ने के बाद उसके ऊपर से इतना ज्यादा टेप लगाने की क्या जरूरत है? यह कसाई होती है। उसके अन्दर कितना लगेगा ? एक तरफ तुम पाँच सौ रुपये का लट्टू लगा रहे हो और इधर बीस-पच्चीस रुपये बचा लोगे। अथवा जहाँ पर प्लग का socket (सॉकेट) और pin (पिन) लगाते हैं वहाँ वह होगा ५ एम्पियर का और उसमें एक घोंचा लगायेंगे जिसमें आगे तीन-तीन छेद हुये हों (multipurpose)। बजाय तीन सॉकेट लगाने के, एक ही लगाकर उसमें से तीन निकाल लेंगे। मूल तो ५ एम्पियर का रहेगा, पाँच का पन्द्रह तो हो नहीं जायेगा। उन तीनों के अन्दर तीन लाईट लगाओगे। तो स्वभावतः क्या होना है ? शार्ट सर्किट होना है। ये २५-५० रुपये के पीछे शार्ट सर्किट (short circuit) होकर आग लगती है और लाखों रुपयों का माल जल जाता है, नुकसान हो जाता है। बाजार में अधिकतर आगें शार्ट सर्किट से लगती हैं।

इसी प्रकार हर्ष हुआ। हर्ष के सुख को नियंत्रित नहीं किया इसलिये हुआ दर्प। अगर उस शार्ट सर्किट को न होने देवें--हर्ष होते ही विचार करो : भगवान् कहते हैं किसी भी काम की सिद्धि में या असिद्धि में पाँच कारण होते हैं। पाँचों जब मिलते हैं—'पंचैते तस्य हेतवः'—तब काम होता है। उसमें एक तुम हो और चार दूसरे हैं। ज्यादा से ज्यादा सफलता के अन्दर तुम बीस प्रतिशत श्रेय के अधिकारी हो सकते हो ! आगे और ज्यादा विचार करो तो उस बीस प्रतिशत में भी देखोगे कि जिसको तुम कहते हो *हमने किया* उसके अन्दर, उस बीस प्रतिशत में भी अनेकों का सहयोग होगा। घर में भोजन अच्छा बना, खाकर मूड अच्छा हुआ, हमने जाकर किसी ग्राहक से बात की, तो मूड में बात की, सौदा हो गया। क्या वह बीस प्रतिशत है हमारा ? विचार करो कि अगर उस दिन घरवाली ने जली खिचड़ी खिला दी होती और पहले ही मूड खराब करके गये होते तो क्या तुम उतनी अच्छी तरह से बात कर सकते थे ? तुम अपने घर से पहुँचे। अगर ड्राइवर हर तीन मिनट पर ब्रेक मारकर तुम्हें हिला देता तो क्या तुम उतने प्रेम से बात कर सकते थे ? अतः जो तुमने किया उसमें भी यही देखोगे कि बहुत से दूसरे कारण हैं। बीस प्रतिशत से ज्यादा तो तुम्हारा है ही नहीं और उस बीस प्रतिशत में भी अनेक सहयोगी हैं। इसलिये पुरानी हमारी शिक्षा यह थी कि चाहे जितनी सफलता हो जाये और दूसरा तुम्हें

बधाई देता था, 'आपने बहुत अच्छा किया', तो तुरंत यही कहते थे कि 'भगवान् की कृपा से हुआ', क्योंकि याद करते थे कि यह काम भगवान् की कृपा से हुआ है। तब तो दर्प नहीं आता। यदि तुम हर्ष के अन्दर *शार्ट सर्किट* कर-जाओ तो खट से दर्प में फँस जाओगे। दर्प में फँसे तो तुरंत धर्म का अतिक्रमण कर जाओगे—'मैं यह कर लूँगा तो कोई मेरा क्या कर लेगा ?' इस प्रकार हर्ष भी दर्प के द्वारा भूतदाह कर देता है, जलाने का कारण बनता है इसलिये इसको भी भूतदाहकों में गिना। अन्यथा आदमी यह सोचता है कि प्रसन्नता होना तो अच्छी बात है। इसमें कोई खराबी नहीं। अच्छी बात यह तभी है जब यह दर्प को उत्पन्न न करे

अगला बतलाया **'रोषः'**—रोष और क्रोध ये कई बार पर्यायवाची रूप में प्रयोग हो जाते हैं—उसको रोष हो गया, उसको क्रोध हो गया। आचार्य शंकर दोनों का भेद बतलाते हैं। क्रोध तो पहले बतला ही दिया था। रोष है 'अनिष्टविषयो मानसो विक्रियाविशेषः'। यह भी अनिष्टविषयक है। क्रोध भी अनिष्ट के बारे में ही होता है परन्तु क्रोध था जो दूसरे पर आक्रोशन, ताडन आदि करे, दूसरे पर चिल्लाना, गुस्सा करना, मार देना आदि। और रोष 'मानसो विक्रियाविशेषः' मन में विकार आता है अनिष्ट विषय के कारण परन्तु आगे प्रकट नहीं होता तब तक उसको रोष कहा जाता है; और आगे चिल्लाने आदि में प्रकट हो जाये तो फिर उसको क्रोध कहते हैं। यह जो अनिष्टविषयक रोष है यह भी विकार होने के कारण, विक्षेप करने वाला होने के कारण दोष तो है ही, आत्मज्ञान को तो ढाँकेगा ही, परन्तु यह धीरे-धीरे सुलगने वाली आग है। आग बाहर प्रकट हो तो लकड़ी जल्दी जल जाती है। सर्दी के मौसम में जो हमारे दिगम्बर महात्मा होते हैं, हरद्वार कुंभ में देखोगे, नागे, वे सब बिना किसी वस्त्र के इस सर्दी में रहते हैं जबकि हम ५-५ वस्त्र पहने हुये भी कहते हैं कि इस साल बड़ी ठंड है। वे धूनी लगाते हैं, आग जलाते हैं। यदि लकड़ी को पूरी तरह से जलावें तब तो घंटे भर में लकड़ी सारी जल जाये, इसलिये उसको धूल से दबाकर, राख से दबाकर रखते हैं। फिर रात भर हलकी आँच आती रहती है। कभी कश्मीर में जाओगे तो देखोगे कि सर्दी के मौसम में वहाँ के लोग कांगड़ी लेकर चलते हैं। रास्ते में भी चलते हैं तो उनके हाथ में कांगड़ी होती है। उसमें फालसा के कोयले राख से दबे हुए रहते हैं।

तीस-पैंतीस घंटे तक उसकी आग बनी रहती है। प्राचीन काल में तो करीब-करीब हर घर में महानस हुआ करता था। भोजनादि सब हो गया उसके बाद आग को दबा कर रख देते थे। शाम को जब भोजन का समय आया तब पहले थोड़ी सी राख को हटाया, थोड़ा-सा फूँक कर उस आग को तेज कर लिया। जिसके घर में आग नहीं होती थी उसके घर को खराब मानते थे, अमांगलिक मानते थे। दियासलाई का जमाना नहीं था। धीरे-धीरे दियासलाई आ गई तो अब घर में कोई आग रखता नहीं। जो निरंतर आग जलाकर धूनी में रखी जाती है वह अन्दर-अन्दर लकड़ी को खाती जाती है। यह ठीक है कि यदि उसको खुलकर जलाते हो तो घंटे भर में बड़ी से बड़ी लकड़ी जल जायेगी और नहीं तो वही लकड़ी २५ घंटे, ३० घंटे धीरे धीरे गर्मी देगी लेकिन धीरे-धीरे जलती रहती है।

क्रोध ऐसा है जैसे उसमें से जोर की लपट निकली और लकड़ी को जल्दी जला दिया। वह तुम्हें हिला भी देगा, पसीना भी निकाल देगा, होंठ भी फड़फड़ा देगा, आँखों को भी लाल कर देगा—वहाँ पर लपट दिखाई देती है। अब जहाँ रोष है वहाँ लपट दिखाई नहीं देती लेकिन अन्दर ही अन्दर जलाती रहती है। जब तक रोष को तुम हटा नहीं दोगे तब तक वह जलाना खत्म नहीं करता इसलिये यह जलाने वाला भी है और चूँकि जब रोष होगा उस समय आत्मचिन्तन नहीं कर सकते अतः वह दोष है।

चौथा कहा **'लोभः'**। लोभ के भी दो रूप हैं। आचार्यपाद कहते हैं—'परद्रव्येप्सा स्वद्रव्याविनियोगस्तीर्थे' दूसरे के पास जो द्रव्य है, जो चीज है, उसकी इच्छा करना 'यह मेरी हो जाये।' दूसरे की चीज के प्रति 'यह मेरी हो जाये' यह दोष हुआ—परद्रव्येप्सा। और—स्वद्रव्य—जो मेरा द्रव्य है, मेरी चीज है उसका सत्कार्य में विनियोग न होवे। यह भी लोभ का प्रकार है। किसी काम को करने के लिये चले। सोचा इस काम के लिये सौ रुपये देंगे। फिर सोचते हैं पचास ही बहुत हैं। चलो पच्चीस ही बहुत हैं—आजकल महँगीवाड़ा recession चल रहा है। अपने द्रव्य का उचित स्थल में विनियोग न करना—यह लोभ का दूसरा प्रकार है। दूसरे का द्रव्य मेरा हो जाये—यह जो परद्रव्य की इच्छा है यह भी लोभ है।

लोभ के विषय में ज्यादा कहना जरूरी नहीं है क्योंकि आज के समाज में काम और क्रोध को तो लोग बुरा मानते हैं लेकिन लोभ को हमारे समाज

में वर्तमान काल में बड़ी अच्छी चीज माना जाता है क्योंकि तुमने *सहयोगी* समाज को छोड़कर पाश्चात्य देश के *प्रतियोगी* समाज को अपनाया। हमारा समाज था सहयोगी समाज जहाँ हर चीज में एक दूसरे का सहयोग करना था। जो जरा बड़ी उम्र के होंगे उन्हें पता होगा—गाँव का एक आदमी पढ़ लिख गया। डाक्टर-वकील बन गया। किसी बड़े शहर में जाकर रह गया तो उस गाँव के दस-पाँच बच्चे आकर उसके यहाँ रहकर पढ़ लेते थे। कभी उसके मन में यह नहीं होता था कि 'ये यहाँ क्यों आये हैं'। न उनके मन में होता था कि 'हम इनके यहाँ कैसे रह रहे हैं'। हमारे गाँव के हैं, क्यों नहीं रहें ? रिश्तेदारों की बात नहीं कह रहे हैं। गाँव का व्यक्ति है, इतने मात्र से। वह था सहयोग का युग।

आज है प्रतियोग का युग। आज ऐसा युग हो गया है—एक ही कार्य को करने वाले दो सगे भाई थे। यह हमारा अपना अनुभव हम बतला रहे हैं। बाप का काम था—दो हिस्सों में बँट गया। दोनों सगे भाई। एक भाई बम्बई में काम करने लगा और एक भाई दिल्ली में काम करता है। माल का लेना देना तो सब जगह होता है। वह गया बम्बई। बम्बई जाकर वापिस आया तो स्वभावतः हमने पूछा भाई के बारे में। अपने तो दोनों ही भक्त हैं। 'अरे उसकी तबियत, उसके घर में सब जने राजी खुशी हैं ?' कहने लगा, 'मिले नहीं।' हमने कहा, 'क्यों, कहीं गया हुआ है ?' 'पता नहीं।' 'कैसे पता नहीं ? तुम वहाँ कहाँ ठहरे थे ?' 'जी, होटल में ठहरा था।' हमने कहा, 'भाई का घर और तू होटल में ठहरा!' बोला, 'जी, बिजनेस के बारे में गया था।' बिजनेस हो, कुछ हो भाई तो भाई रहता है। तो फिर उसकी पत्नी ने हमें बताया, 'जी, वहाँ ठहरेंगे तो लोगों को पता लग जायेगा कि किनके साथ हमारा सौदा हुआ है !' भाई भी भाई से छिपाता है। हमने कहा, गजब हो गया। यह हुई प्रतियोगिता। कहाँ तो हम लोग कहते थे कि गाँव के आदमी की हमारे से मदद हो और कहाँ अब यह हालत हो गई है कि सगे भाई की भी हमसे मदद न होवे। कर कुछ नहीं रहा है लेकिन उसको पता लग जायेगा तो *हो सकता है* कुछ फायदा उठा ले।

सहयोगिता को छोड़कर हमने जब प्रतियोगिता अपनायी तो नतीजा° यह हुआ कि लोभ हमारे समाज का एक माननीय सिद्धान्त हो गया कि 'यह तो अच्छी ही भावना है, इसमें कोई बुराई नहीं है।' परन्तु यदि विचार

करके देखो तो भगवान् ने काम क्रोध लोभ, तीनों को एक-जैसा नरक का दरवाजा बतलाया। प्रतियोगिता वाला कभी भी आत्मनिष्ठा को प्राप्त कर सकता नहीं। सब भूतों में आत्मा देखने का काम तब हो सकता है जब तुम्हारे अन्दर प्रतियोगिता की भावना न आवे। इसलिये प्रतियोगिता के साथ अध्यात्मशास्त्र का संबंध वैसा ही है जैसा उत्तर ध्रुव और दक्षिण ध्रुव का। सहयोगिता के अन्दर हर कदम पर तुम दूसरे से जब सहयोग करते हो तो कहीं न कहीं यह धारणा हृदय में है कि जो मेरी आत्मा है वही इसकी आत्मा है, इसकी प्रसन्नता में हमें प्रसन्न होना है। प्रतियोगिता की भावना के अन्दर ठीक इससे विपरीत है—इसका फायदा मेरा नुकसान है। अतः सर्वभूतों के अन्दर जो आत्मदर्शन है वह प्रतियोगी के लिये असंभव है, हो ही नहीं सकता।

लोभ को इसलिये दोष बतलाया क्योंकि इसके अन्दर परद्रव्य की कामना से भेदबुद्धि ज्यादा-ज्यादा दृढ होती है। परद्रव्य की इच्छा तुम्हें क्यों हो रही है ? उसको तुम अपने से भिन्न मानते हो इसलिये। बहुत से आदमी होते हैं जो घूस लेते हैं। तुमने उनकी पत्नी को हार दे दिया तो उनके मन में यही आता है कि 'इसको दिया तो मुझे ही दिया'। क्यों आता है ? यह तो नहीं आता कि 'मुझे क्यों नहीं दिया ? उसको क्यों दिया ?' क्योंकि वह पत्नी परायी नहीं लगती। उसको जो मिला वह तुम्हें ही मिला। यदि किसी दूसरे को मिलता है तब तुम्हारे मन में होता है कि 'मुझे क्यों नहीं मिला'। प्रायः पंजाबियों में हमने देखा है कि जितनी चीजें देते हैं औरतों को ही देते हैं। लेने देने के काम में ज्यादातर औरतों को ही दिया जाता है। ब्याह-शादी होवे, आदमी को सूट कम मिलते हैं, औरतों को साड़ियाँ मिल ही जाती हैं। जब वापस देने का समय आता है तो किससे लिया जाता है ? आदमी से लिया जाता है। अधिकतर पुरानी औरतें कमाती तो हैं नहीं, कमाने वाली क्या करती हैं यह तो हमें पता नहीं ! तो आदमी के मन में यह नहीं आता कि 'तुझे मिली थी, मैं क्यों दूँ ?' क्योंकि उसमें परबुद्धि है नहीं। यही लगता है कि 'उसको मिली साड़ी तो मुझे ही मिली। मैं दे रहा हूँ तो वही दे रही है'। तो जहाँ पर की भावना होती है वहाँ होता है कि 'वह द्रव्य मेरा हो इसका नहीं'। जिसके पास भी है, जहाँ कहीं भी है, किसके पास है ? आत्मा के पास ही है, चेतन के पास है। तब परद्रव्य

है कहाँ ? अगर तुम शरीर मन को लेकर बात करना चाहते हो तो शरीर मन हर हालत में तुम्हारा भी पर ही है ! शरीर मन तुम्हारा स्वरूप तो है नहीं। शरीर मन के पास होने को यदि तुम लाभ मानना चाहते हो तब जो तुम्हारे शरीर मन के पास है वह भी पर है। और यदि अपने को मानना चाहते हो तो जो इन्द्र के पास सुख है वह भी मेरा ही सुख है क्योंकि उस सुख को लेने वाला चेतन मेरे से भिन्न है ही नहीं। अतः कभी परद्रव्य की इच्छा हो नहीं सकती।

दूसरा लोभ का ढंग बतलाया था यह भाव कि अपने द्रव्य का विनियोग अच्छे कार्य में न हो। यह भी तभी होगा जब हम दूसरे को *पर* समझेंगे। तभी 'इसको दे दिया तो मेरा नहीं रहा' यह भाव बनेगा। बहुत साल पहले की बात है। गुजरात के अन्दर एक हिस्सा आता है जहाँ जिसे बिल्कुल पिछड़ा हुआ वर्ग कहोगे वे लोग रहते हैं। आजकल उन्हें tribals कहते हैं। हम tribals नहीं कहते। क्यों नहीं कहते ? हमारी भी तो कोई tribe ही है। इम सभी किसी न किसी जाति वाले हैं। विदेशी tribal तो ठीक कहते हैं क्योंकि वे बेजात हैं ! बेजात वाले किसी को 'जातिवाला' कहें तो वह ठीक है। लेकिन हम लोग तो खुद जाति वाले हैं, बेजात हैं नहीं। उधर से निकल रहे थे। वहाँ एक बूढ़ा था। रात में उसके यहाँ रहे। बातचीत में वह कह रहा था कि 'महाराज बहुत खराब जमाना आने लगा है।' हमने पूछा, 'क्यों ?' बोला, 'अकाल पड़ा हुआ है। मेरे पास अच्छी खेती है, अनाज भी है। अकाल पड़ा हुआ है तो मैंने अनाज बाहर रखा कि जो आवे उसको दे दें। मेरे लड़के-पोते कहते हैं कि 'इसको अन्दर छिपाकर रखो ! लोग देखेंगे तो लेंगे।' मैंने कहा 'अनाज खाने की चीज है। वह भूखा है। भूखे के लिये न अनाज होता है। उसको न देने का क्या मतलब ?' तो वे बोले कि 'महँगा हो जायेगा तब देंगे !' मैंने कहा, 'भूखे को दो नहीं और जब महँगा हो जाये तो तुम दोगे किसको ? यह तो अनाज का महान् दुरुपयोग है। यह भूखे के लिये है, भूखे को दो।' कहने लगा, 'मेरे बच्चे पढ़े लिखे हैं। मैंने सोचा था पढ़-लिखकर सुधरेंगे परन्तु उनकी ऐसी उल्टी बुद्धि हो गई कि जिसको भोजन चाहिये उसको भोजन न देने की शिक्षा इनको मिली। मैंने कहा कि मैं जब तक जिन्दा हूँ मुझे तो यही समझ आता है कि अन्न भूख मिटाने की चीज है। जिसको भूख हो उसे दो। जिसको भूख नहीं

उसे क्या देना ?'

जब तक आत्मदृष्टि होती है तब तक लगता है द्रव्य किसके लिये है? जिसको आवश्यक है। भूखे को आवश्यक है इसलिये धान्य रूप द्रव्य भूखे के लिये है। जब हो गया कि 'नहीं, यह पर है' तब मन में होता है कि इसको क्यों देवें ?

कई बार लोग कहते हैं, 'महाराज ! बिना काम किये मुफ्त में नहीं खाना चाहिये।' हम उनसे कहते हैं, 'रविवार को तुम कुछ नहीं खाते होगे?' कहते हैं, 'क्यों ?' हम कहते हैं 'रविवार को तुम काम पर जाते नहीं हो तो रविवार को खाना भी नहीं चाहिये तुम्हें।' कहते हैं, 'आप तो ऐसी बात करते हैं।' यह तो सीधी सी बात है : जब पक्षी भूखा नहीं रहता बिना नौकरी किये हुये, पशु भूखा नहीं रहता बिना नौकरी किये हुये, मच्छर भूखा नहीं रहता बिना कुछ काम किये हुये तो तुम आदमी की जात को इतना निकृष्ट मानते हो कि वह भोजन तब तक न करे जब तक वह तुम्हारी दृष्टि से कुछ न कुछ काम न करे ? मनुष्य पैदा हुआ है जैसे सब प्राणी पैदा हुये हैं। खाने की चीज खाने के लिये है, पहनने की चीज पहनने के लिये है। व्यक्ति कहता है कि 'मैं खाऊँ यह तो विनियोग है और दूसरा खाये तो वह विनियोग नहीं है ! उसके बदले में हमें कुछ मिले तो वह खाये।' लोभ के ये दोनों रूप हैं। दूसरे के द्रव्य के बारे में : वह चूँकि दूसरा है इसलिये उसके पास न रहे मेरे पास आ जाये। मेरे पास जो है, चाहे उपयोग में नहीं भी आ रहा है परन्तु वह पर है इसलिये मेरा पर के पास न जाये।

जब तक यह स्व और पर की दृष्टि रहेगी तब तक कैसे तुम सर्वत्र आत्मदर्शन कर सकते हो ? अतः यह ढाँकने वाला होने से दोष तो है ही और यह जलाता भी है क्योंकि संसार में सारा धन तुम्हारे पास कभी होने वाला नहीं। इसलिये हमेशा कुछ न कुछ परद्रव्य रहेगा जिसकी इच्छा तुम्हें जलाती रहेगी। कितना भी मिल जायेगा तो भी दूसरे के पास कुछ तो रहेगा ही। वही परद्रव्य तुम्हें जलायेगा। और तुम जितना भी चाहो 'हम अपने धन का विनियोग न करें' कुछ न कुछ विनियोग होगा ही। और जैसे ही विनियोग होगा वैसे ही तुम्हें दुःख होगा, जलायेगा। लट्टू, पंखे लगा लोगे कमरों के अन्दर। बच्चे बेचारे कभी बन्द तो करेंगे नहीं। वह

जो स्वद्रव्य का विनियोग हो रहा है वह 'क्यों नहीं बन्द करते ?' यों जलाता रहेगा। वहाँ से लेकर के बाकी सब चीजें सोच लो। लोभ के कारण दूसरे के द्रव्य की इच्छा भी जलाती रहेगी और अपने द्रव्य का जरूर विनियोग तरह तरह से होगा ही। चाहे जितनी कोशिश कर लो। वह भी सारा का सारा जलाता ही रहेगा। इसलिये यह भूतदाही भी है और दोष भी है।

●

प्रवचन-१६

जिन विक्षेपों के कारण, जिन प्रतिबन्धकों के कारण ज्ञान होने पर भी मनुष्य उसमें निष्ठा, निरंतर स्थिति कर नहीं पाता उनको बतला रहे हैं और उन सब की निवृत्ति का उपाय भी बतायेंगे। **'तेषां'** उन सभी का; **'निर्घातः'** अर्थात् ऐसा नाश कि फिर कभी वे उत्पन्न हो ही न सकें। वह उपाय योगमूल है अर्थात् आत्मविद्या ही उसका मूल है, उसीसे वैसा नाश होता है। क्रोध की निवृत्ति किस प्रकार आत्मज्ञान के सहारे होती है यह बताया। इसी प्रकार हर्ष की निवृत्ति होती है। 'जो कुछ हो रहा है वह उस परमेश्वर के द्वारा हो रहा है' इस भाव से मनुष्य हर्ष से होने वाले दर्प और धर्मातिक्रमण से बच जाता है। इसी प्रकार आत्मविद्या के सहारे ही रोष से भी बच जाता है क्योंकि जिसने हमारा विघात किया या जिससे हम ईर्षा करते हैं वह सचमुच *पर* नहीं है। इसी तरह जिस किसी के प्रति द्रव्य का विनियोग हो रहा है वह अंततोगत्वा जिसको मिल रहा है वह मुझसे भिन्न नहीं है—इस प्रकार लोभ की निवृत्ति। अन्य प्रकारों से जब दोषों की निवृत्ति होती है तब उनका *निर्घात* नहीं होता है। अर्थात् कुछ चीजों के प्रति कुछ परिमाण में लोभादि की निवृत्ति हो जायेगी परन्तु सर्वथा निवृत्ति होगी नहीं।

अगला दोष है **मोह**। आचार्य लिखते हैं—'कार्याकार्याविवेकिता'। कार्य-अकार्य इसका विवेक न होना इसी को मोह कहते हैं। कार्य अर्थात् क्या करना चाहिये, क्या हमारा कर्तव्य है, करने के योग्य क्या है। अकार्य अर्थात् क्या नहीं करना चाहिये, करने के योग्य कौन-सा काम नहीं है। इसके विवेक का न होना। विवेक का अर्थ होता है दो मिली चीजों को अलग समझना। जिसको सामान्य हिन्दी में कहते हैं 'बीनना'। गेहूँ में पत्थर मिला हुआ है। गेहूँ के अन्दर सुरसुरी मिली हुई है। उन सब चीजों को गेहूँ से अलग करना—इसी को बीनना कहते हैं, संस्कृत में इसी को विवेक कहते हैं। जैसे तुम वहाँ विवेक करते हो—क्या खाने लायक है, क्या खाने लायक नहीं। वहाँ केवल यह नहीं देखना है कि यह गेहूँ है कि नहीं, क्योंकि जिस गेहूँ को ईली ने, सुरसुरी ने खा लिया है और पोला हो गया है, वह

है तो अभी गेहूँ ही परन्तु खाने लायक नहीं है। अतः वहाँ तुम विवेक करते हो कि क्या खाने के योग्य है और क्या खाने के योग्य नहीं है। अन्यथा तुमने किसी से कहा कि, 'इसमें से कंकड़ बीन कर अलग कर दो।' वह सारे कंकड़ों को तो अलग कर देगा पर उसमें फूस पड़ा है उसको अलग नहीं करेगा क्योंकि 'आपने कहा नहीं !' उसमें पड़ी हुई ईली को अलग नहीं करेगा, 'आपने कहा नहीं !' ईली और सुरसुरी द्वारा खाये हुए गेहूँ को अलग नहीं करेगा, 'आपने कहा नहीं !'

संस्कृत भाषा में प्रसिद्ध दृष्टांत है—खीर बनाकर रख दी। खीर बनाने वाले ने कहा 'हम स्नानादि करके ताजे हो आवें फिर भोजन करेंगे।' दूसरा व्यक्ति जिसने भोजन नहीं बनाया था उसको तो नहाने की जरूरत थी नहीं। उसको कह दिया 'जरा ध्यान रखना कि कौए इसको न खा जायें। कौआ इसको गड़बड़ न करें देवे।' दिन के समय कोई खाद्य सामग्री हो तो कौओं का डर अधिक रहता है। अभी आप लोग कुंभ मेले में जायेंगे। कुंभ मेले में बड़े-बड़े भंडारे होते हैं, समष्टियाँ होती हैं। आप लोग वहाँ देखेंगे १५-२० महात्मा कुछ नहीं करते, काँच लेकर घूमते रहते हैं। कोई नए लोग होंगे आप लोगों में से तो सोचेंगे कि ये महात्मा होकर बार-बार काँच देख रहे हैं ! यह तो औरतें अपने झोले में hand bag में रख कर बार-बार देखती रहती हैं कि मेरा नाक ठीक है कि नहीं। महात्मा काँच आसमान की तरफ करके घूमते हैं ताकि कौए, चिड़िया इत्यादि समझती हैं कि यहाँ खाली जगह है, वे नीचे आती नहीं। यदि ऐसा न होवे तो पत्तल में खाते समय कौए व चिड़िया झट आ जायेंगी। जहाँ भी खुला भोजन होगा वहाँ कौए से रक्षा करने के लिये कह दिया जाता है। वह गैर समझदार आदमी था जिसे खीर का रखवाला बनाया था। इसलिये पहले ही भोजन का काम उसको नहीं दिया पर सोचा कि कौए वगैरह को तो नहीं आने देगा। वहाँ आ गई बिल्ली और वह खीर खा गई। थोड़ी बच गई। जब पहले वाले व्यक्ति स्नान संध्यादि करके लौटे तो उन्होंने देखकर पूछा कि, 'इतनी खीर कहाँ गई ?' वह बोला, 'बिल्ली खा गई।' 'तो तू क्या कर रहा था ?' 'जी आप बोले थे कि कौए को नहीं खाने देना पर यहाँ तो बिल्ली आई थी !' यह है अविवेकी का लक्षण। जब कहा था कि कौए से बचाना तब उसका तात्पर्य तो यह था कि खीर कोई भी न खावे। यह

खीर दूसरे के द्वारा उच्छिष्ट होकर अखाद्य न हो जाये। परन्तु अविवेकी इस बात को नहीं समझता। वह कहता है 'जितना आपने कहा हमने मान लिया।'

इसलिये कार्य-अकार्य विवेक का बहुत विस्तृत विचार करने वाले मनु महाराज कहते हैं

'यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा, शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनद्वयहीनस्य प्रकाशेन प्रयोजनम्।।'

जिसके अंदर खुद समझने की सामर्थ्य नहीं है, प्रज्ञा नहीं है, शास्त्र उसका लाभ कैसे करे ? जैसे प्रकाश की जरूरत हमको चीजों को देखने के लिये है। चीजें किसमें दीखती हैं ? रोशनी में दीखती हैं। प्रकाश का प्रयोजन है चीजों को दिखलाना। लेकिन जो दोनों आँखों से अंधा है उसके लिये चाहे जितना प्रकाश करो, उसमें देखने की शक्ति नहीं है तो वह कभी देख नहीं सकता। इसी प्रकार शास्त्र को समझने की जिसमें प्रज्ञा नहीं, समझने की सामर्थ्य नहीं है, तो शास्त्र चाहे उसको जितनी बात समझाकर कहे, अपनी प्रज्ञा के बिना समझ आने वाला नहीं है। जैसे उसने *कौए* से कौआ ही समझा वैसे ही प्रज्ञाहीन जितना कहा है उतना ही समझेगा, 'क्या कहना चाहता है'—इसकी उसको प्रज्ञा ही नहीं है। कार्य और अकार्य के विवेक का न होना, यह हो गया मोह।

इसका दृष्टांत अर्जुन है। अर्जुन युद्ध भूमि में पहुँचता है। दो बातें उसके सामने उपस्थित होती हैं : एक तरफ जो अतिपूज्य, जिन्होंने धनुर्विद्या का उपदेश दिया, द्रोणाचार्य गुरु। भीष्म पितामह—दादा, जिन्होंने गोद में बैठाकर खिलाया। एक तरफ वे हैं। अर्जुन कहता है—इनके साथ कैसे लड़ूँ? दुश्मन के साथ तो लड़ लिया जाये परन्तु इनके साथ कैसे लड़ूँ ? ये तो पूजा के योग्य हैं, इनकी तो पूजा करनी चाहिये। अरिसूदन ! भगवान् को संबोधित करता है और संबोधन से ही बतलाता है कि आपने दुश्मनों को मारा और हमको कह रहे हैं कि इनको मारो जो पूजा के योग्य हैं ! एक तो जो पूजा के योग्य हैं उनको मारना है, खाली लड़ना नहीं है। अर्जुन उनसे लड़ चुका है। जिस समय विराट नगर में गायों को लेने के लिये ये लोग गये थे, तब दुर्योधन का साथ भीष्म-द्रोण ने दिया। इसलिये महाभारतकार कहते हैं कि गलत आदमी का साथ देने से क्या होता

है—'भीष्मो गोहरणे गतः !' भीष्म जैसे व्यक्ति को गौ हरने के लिये जाना पड़ा। उस समय विराट नगर में रहते हुये अर्जुन ने इन लोगों को युद्ध में हराया था। परन्तु उस हराने में इन्होंने मूर्छा के अस्त्र का प्रयोग कर इनके कपड़े लत्ते तो उतार लिये थे। हार गये, प्रमाणित भी हो गया। कपड़े लत्ते तो उतार लिये थे, परन्तु जान से नहीं मारना पड़ा था। युद्ध करने में उसको भय नहीं है और वह इतना भी जानता है कि क्षत्रियों में किसी प्रसंग पर आपस में लड़ाई हो जाती है। परन्तु अब केवल हराना नहीं है। कौरवों ने सबसे आगे भीष्म व द्रोण को खड़ा कर रखा है, सेनाध्यक्ष बना रखा है। अट्ठारह दिन की लड़ाई में दस दिन भीष्म आगे रहे और पाँच दिन द्रोणाचार्य रहे। बाकी के ढाई दिनों के अन्दर कर्ण, शल्य और अंत में दुर्योधन का पराजय। जब तक इनको जान से मारूँ नहीं तब तक युद्ध समाप्त होगा नहीं। यह काम कैसे किया जाये ? बात समझ में आती है कि अर्जुन का कहना बिल्कुल ठीक है। दूसरी तरफ शास्त्रकार कहते हैं—'उत्पथप्रतिपन्नस्य गुरोस्त्यागो विधीयते' यदि गलत आदमी का साथ देने लग जाये, गलत रास्ते का समर्थन करने लग जाये, तो गुरुजनों का भी सामान्य पुरुष को त्याग कर देना पड़ता है। और यदि तुम राजा हो, क्षत्रिय हो तो उनको दण्ड भी देना पड़ता है !

महाराजा पृथ्वीराज के चाचा थे काहन। उनके चाचा होने से सब जगह उनको काका काहन कहते थे। कोई एक आदमी दरबार में अंड बंड बोल रहा था। काका काहन ने उसको डाँटा कि 'क्या बोल रहा है !' वह माना नहीं, तो वे उठे और दरबार के अन्दर ही उसका सिर काट दिया—'बोलता है तो यह ले !' काका काहन थे बड़े बहादुर। उस समय पुराने किले के आसपास घोर जंगल था। एक बार वे टहलने के लिये गये हुए थे, वहाँ कोई शेर मिल गया। शेर ने उन पर आक्रमण किया। उन्होंने शेर के मुँह में हाथ देकर उसकी जीभ पकड़ ली और वहाँ से खींच कर पुराने किले तक लेकर आये। पृथ्वीराज को बुलाया और कहा कि 'अरे ! इन कुत्तों को सँभालकर रख। मैं तुम्हारा चाचा अभी ज्यादा बुड्ढा नहीं हुआ हूँ। यह यदि तुम्हारी प्रजा में से किसी पर आक्रमण करता तो क्या होता ? यह तुम्हारा राज्य करने का तरीका है ?' प्रबल बलशाली थे और ऐसे का हाथ पड़े तो भारी पड़ जाता है। कौन कहता उनसे कि आपने जो काम

किया है गलत है, जिसे आजकल कहते हैं 'कानून अपने हाथों में लेना।' पृथ्वीराज ने कुछ दिनों बाद जाकर कहा कि 'जी आपने उस दिन मार दिया, इस प्रकार सभा में बिना विचारे मारना ठीक नहीं। दण्डनीय तो था, पर ऐसे नहीं मार देना चाहिये।' वे बाले 'मुझे जब गुस्सा आता है तो मैं नहीं रोक सकता। कोई ऐसी उद्दण्ड बात कहेगा तो मैं काट दूँगा।' पृथ्वीराज ने कहा 'जिसके सर पर आपने अपने अंगूठे के रक्त से तिलक किया है (प्राचीन काल में जब राजा का तिलक करते थे तो अंगूठे को चीर कर खून से तिलक करते थे) उसकी आज्ञा तो आप मानेंगे ?' वे बोले कि 'हाँ, तुम आज्ञा दो, तुम राजा हो।' पृथ्वीराज बोले कि 'जब आप सामान्य स्थान में लोगों के सामने हों तब आपकी आँखों को हमेशा बंद रखा जायेगा। आँखों पर पट्टी बंधी रहेगी। युद्ध के मैदान में और घर के अन्दर आपकी पट्टी खुल जायेगी।' उन्होंने कहा 'राजा की आज्ञा है इसलिये इसे मैं मान लूँगा। परन्तु यदि कोई गलत काम करेगा तो मैं क्रोध को सँभाल नहीं सकता हूँ।' इसलिये मनु महाराज लिखते हैं—कोई भी राजा के लिये अदण्डनीय नहीं हुआ करता। राजा सबको दण्ड दे सकता है।

दुर्योधन आदि ने सब तरह के गलत काम किये थे। अतः दुर्योधन आदि को भी दण्ड देना जरूरी है क्योंकि पाण्डव राजसूय यज्ञ करके सम्राट् पद पर आ चुके थे। अतः, दुर्योधन आदि को दण्ड देना इनके लिये जरूरी था। दुर्योधन आदि का साथ देकर भीष्म द्रोण उत्पथ पर प्रतिपन्न हो रहे थे। गलत आदमी को सहारा दे रहे थे इसलिये ये भी दण्डनीय थे। एक तरफ चूँकि वे दादा और गुरु थे इसलिये पूजनीय और दूसरी तरफ वे उत्पथ को सहारा दे रहे थे इसलिये दण्डनीय। ऐसी परिस्थिति के अन्दर, दो एक-जैसे प्रबल पक्ष सामने आने पर समस्या हो जाती है कि इनमें से क्या कर्तव्य है, क्या अकर्तव्य है। साधारण स्थिति में कार्य-अकार्य तो सब समझ लेते हैं—झूठ बोलना पाप है, नहीं बोलना चाहिये; घूस देना पाप है, नहीं देनी चाहिये; ठगी करना पाप है, नहीं करना चाहिये—यह तो सब समझ लेते हैं परन्तु जब दो समान परिस्थिति आवें तब विवेक की जरूरत पड़ती है।

मूंग का जो दाना होता है उसमें बीच-बीच में ऐसा दाना होता है जो बिल्कुल मूंग के जैसा होता है। पूरे ध्यान से देखोगे तो पता लग जायेगा कि वह मूंग का दाना नहीं है। अन्यथा वह मूंग के जैसा दीखता है और

बीन कर भी वह दाल के साथ आ जाता है। जब मूंग की दाल कहीं पर खाते हैं तो पता लग जाता है कि वहाँ की गृहिणी विवेकी है कि अविवेकी! बीच में यदि कड़ा दाना आ गया तो समझ लेते हैं कि यह घरवाली है अविवेकी और सर्वथा नहीं आवे तो पता लग जाता है कि वह विवेकी है। सामान्य पत्थर तो सब हटा देते हैं। झूठ बोलना पाप है यह तो सब जानते हैं परन्तु जैसे वहाँ एक जैसे दानों में परीक्षा करते समय प्रज्ञा की जरूरत है। इसी प्रकार अर्जुन की समस्या थी। दोनों एक जैसे दाने हैं : वे पूजनीय भी हैं और दण्डनीय भी हैं। अतः ऐसे समय में वह कहता है—मुझे अविवेक हो रहा है, कुछ समझ में नहीं आ रहा। दोनों कामों में से कौन सा काम करूँ—यह समझ में नहीं आ रहा। जब आदमी की समझ में बात नहीं आती तब मनुष्य की स्वाभाविक प्रकृति यह हो जाती है कि दस आदमी जिसको अच्छा कहें, वह कर लो। भले आदमी जिसको अच्छा कहें वह कर लो। अतः अर्जुन कहता है—महाराज ! सभी भले आदमी यही कहेंगे कि 'रुधिरप्रदिग्धान्' खून से प्राप्त किया, खून से सींचा हुआ जो राज्य हम लेंगे, इन लोगों को मार कर, इसकी अपेक्षा इसका त्याग ही श्रेष्ठ है। तब से लेकर आज तक बहुत से आदमी यही सोचते हैं कि 'अरे महाभारत का युद्ध न किया होता तो क्या बिगड़ जाता !' अर्जुन ने यही कहा कि खून से सने हुए इन भोगों को लेकर क्या करेंगे ? इसकी अपेक्षा तो भीख माँगना अच्छा। १३ साल और उससे पहले लाक्षागृह के बाद तीन साल—हम लोगों को काफी भीख मांगने की आदत है ! जैसे इतने साल निकाले वैसे और निकाल देंगे। इसलिये भीख माँग कर खा लेना अच्छा है, ये रुधिर-प्रदिग्ध भोग न लें।

परन्तु फिर भी उस पर इतने साल के सत्संग का प्रभाव था अतः कहता भी है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' लेकिन साथ में यह भी कहता है कि 'क्या सचमुच में यहाँ युद्ध नहीं करना ठीक है ? इसलिये आपकी शरण में हूँ, आप बताइये।' यदि उसमें इतनी भी क्षमता न होती, इतना भी सत्संग न सुना होता तो छोड़कर चल देता। जैसे हमारे यहाँ गीता को नहीं पढ़ने वाले लोगों ने तिब्बत छोड़ दिया, अभी थोड़े दिन पहले चीन ने जो ४० हजार मील जमीन ली थी, वह छोड़ दी; बंगाल में तीन बीघा जमीन छोड़ दी—'छोड़ो जी क्या करना है, बहुत जमीन है !' आगे विचार भी नहीं करते

हैं कि हमने प्रतिज्ञा की है देश की रक्षा की, देश कहाँ से कहाँ तक है; उसमें देशभंग का प्रावधान रखा है क्या कि देशभंग करके उसकी रक्षा करेंगे ? विवेक का सर्वथा अभाव है, जहाँ यूरोप वालों ने ताली बजायी कि 'बहुत बढ़िया किया जो छोड़ दिया', खुश हो गये।

इतना अविवेक अर्जुन को है नहीं, सत्संग से प्रभावित है, परन्तु ऐसे व्यक्ति को भी मोह हो रहा है। इस मोह की निवृत्ति को किसी भी कर्मकाण्ड के द्वारा सुलझाया नहीं जा सकता। ऐसी धर्मसंकट की स्थिति में पता लगाना होवे कि क्या धर्म है, क्या अधर्म है तो इसका पता केवल कर्मकाण्ड के सहारे लग नहीं सकता। सम्भावना यही है कि गलत निर्णय होगा।

इसलिये जब अर्जुन ने यह कहा तो भगवान् इस बात को जानते थे कि यह जो मोह है इसका निर्घात, इस मोह की निवृत्ति तो जब तक इसको आत्मज्ञान नहीं दिया जायेगा, तब तक नहीं हो सकता है। अतः भगवान् ने जवाब में यह नहीं कहा कि लड़ या नहीं लड़। भगवान् ने प्रारम्भ करते ही सबसे पहले आत्मतत्त्व का उपदेश दिया। पहले यह समझ ले कि जन्म-मृत्यु इत्यादि से रहित तेरा स्वरूप क्या है, इनका स्वरूप क्या है। तब समझ में आयेगा कि जन्म मृत्यु तो प्रवाह है।

'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन !' तेरे भी बहुत से जन्म बीत गये, मेरे भी बहुत से जन्म बीत गये, आगे भी होते रहेंगे। जन्म-मृत्यु के प्रवाह से वृत्ति को हटाकर, आत्मा की तरफ़ पहले लाओ। पहले ठीक प्रकार से आत्मज्ञान उसको दे दिया। कई लोग शंका करते हैं कि अर्जुन ने पूछा था 'लड़ूँ कि नहीं लड़ूँ'। तो भगवान् को सीधा जवाब दे देना चाहिये था कि 'लड़' या 'नहीं लड़'। यह कोई समय था आत्मज्ञान के उपदेश देने का, लड़ाई के बीच में ? कुछ लोग एक कदम आगे जाकर कहते हैं कि 'यह तो ऐसे ही बीच में जोड़ दिया होगा। कहाँ वहाँ भगवान् ने बीच में यह सब उपदेश दिया होगा !' परन्तु यहाँ आपस्तम्ब ऋषि कहते हैं—'तेषां योगमूलो निर्घातः' इस प्रकार के मोह का निर्घात बिना आत्मज्ञान के हो नहीं सकता। इसलिये आत्मोपदेश देना आवश्यक हो गया। आत्मविद्या के अन्दर स्थिरता तब तक नहीं हो सकती जब तक मनन न करे, जितने भी प्रश्न उठते हैं उसका जवाब न मिले। अतः अर्जुन जितने प्रश्न करता गया भगवान् सबका समाधान करते गये क्योंकि मनन सहकृत श्रवण

चाहिये। तत्त्व तो भगवान् ने दूसरे अध्याय के शुरू में ही बतला दिया था। कह दिया था कि यहाँ तक तुम को ज्ञान की प्रक्रिया बतला दी। ज्ञान का श्रवण तो भगवान् ने पहले करवा दिया। उसके बाद उस विषय में संदेह वह उठाता गया तो मनन रूप से उसके संशयों की निवृत्ति करते गये। अंत में भी वह यही कहता है—'नष्टो मोहः' मेरा मोह नष्ट हो गया।

कार्य-अकार्य की विवेकिता तब तक नहीं आ सकती जब तक आत्मविषयक प्रज्ञा न होवे। यह ठीक है कि आत्मविषयक प्रज्ञा होने के पहले भी धर्म करो, सत्कार्य करो। परन्तु वहाँ सत्कार्य करोगे किसी की आज्ञा मान कर; गुरु ने कह दिया, माता-पिता ने कह दिया, शास्त्र ने कह दिया। वह तुम्हारी स्वयं प्रज्ञा नहीं होती। परंतु आत्मज्ञान हो जाने पर तुम्हारी स्वयं प्रज्ञा होती है, तुम स्वयं जानते हो वस्तुतः वहाँ क्या कार्य है, क्या अकार्य है। इसलिये कविकुलगुरु कालिदास ने कहा है कि जहाँ कार्य-अकार्य का प्रश्न आता है वहाँ जो सत्पुरुष होते हैं उनकी स्वभाव से जो प्रवृत्ति होती है वह कार्य ही होता है, धर्म ही होता है—'सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।' सत्पुरुष वे हुए जिन्होंने सत् आत्मा का हाथ में रखे हुए आँवले की तरह अपरोक्ष कर लिया है। उनको जहाँ जहाँ संदेह की बात आती है वहाँ उनके अंतःकरण की जो प्रवृत्ति होती है वह हमेशा कार्यविषयक ही होती है। इसलिये अर्जुन ने कहा 'मुझे आत्मज्ञान आपकी कृपा से हो गया—'स्मृतिर्लब्धा'। आपने गुरु रूप से मुझे उपदेश का प्रसाद दिया, श्रवण मनन करवाया।' संबोधन करता है 'अच्युत !' आप कार्याकार्य में च्युत नहीं होते क्योंकि आपकी स्वयं प्रज्ञा है। जैसे आप अच्युत हैं वैसा ही आपने मुझे भी अच्युत बना दिया। पहले जब संबोधन किया तब कहा था 'अरिसूदन' शत्रुओं को मारने वाला; यहाँ आकर कहते हैं 'अच्युत' आप च्युत नहीं हुए; जब आपको मामा को भी मारना पड़ा तब आपने मारा। तब कह रहा था कि आपने दुश्मनों को मारा, अब कहता है कि अपने सगे मामा को मारने की परिस्थिति आने पर भी आप कार्य से चूके नहीं।

यह जो कार्याकार्य की विवेकिता है यह जब योगमूलक होती है तब तो मोह का निर्घात हो जाता है, फिर कभी भी मोह होता नहीं। जब तक आत्मविषयक मनुष्य की प्रज्ञा दृढ नहीं हो गई है तब तक यह कार्याकार्य की अविवेकिता हटती नहीं।

अगला है **दम्भ**। दम्भ अर्थात् 'आत्मनो धर्मित्वप्रकाशनम्' मैं धार्मिक हूँ इस बात का प्रकाश करना—*लोग* समझें कि मैं धार्मिक हूँ। धार्मिक *बनना* अलग बात है और मैं धार्मिक हूँ इस बात को *जताना* अलग बात है। देश की उन्नति करना और है और देश की उन्नति की बातें करके यह बताना कि मैंने कितनी उन्नति देश की की, यह दूसरी मनोदशा है। इसमें है कि लोग समझें मैंने यह किया। कहेंगे 'बीस जगह जाकर मैंने नई नई योजनायें शुरू कीं।' उन योजनाओं में पूरी कौन सी हुई ? कोई नहीं ! वहाँ लोगों को *बताना* है कि मैंने किया, करना नहीं है। जब तक मेरी योजना पूर्ण न हो जाये तब तक 'मैंने यह योजना आरंभ की' कहना ही बेकार की बात है। धार्मिक बनना तो चाहिये लेकिन धार्मिक हूँ—ऐसा प्रकाशन नहीं करना चाहिये। दम्भ जो किया जाता है उसमें बिना धार्मिक बने हुए धार्मिकता का प्रदर्शन है। नीलकण्ठ दीक्षित ने कहा है : पुराने जमाने में—अब तो वह भी नहीं रहा—सवेरे उठकर लोग तालाब में, नदी में, गंगाजी में जाकर संध्यावंदन करते थे। स्नानादि करते थे। संध्यावंदन में कितना समय लगता है ? नीलकण्ठ कहते हैं कि कलयुग की महिमा है, जितने लोग चारों ओर हैं। भीड़ भड़क्का है तो संध्यावंदन आधे घंटे चलेगा और दायें-बायें देखा कि कोई देखने वाला नहीं है तो एक माला गायत्री की हुई और संध्या खतम ! यह है दम्भ।

दम्भ का भी योगमूल निर्घात है। मैं दिखला रहा हूँ धार्मिकता। किसको दिखला रहा हूँ ? जो देखने वाले हैं वे तो उस धर्म का फल दे नहीं सकते, वे फल देने वाले नहीं। उनका तो फल इतना ही होगा कि ज्यादा से ज्यादा तुमको लंबा नमस्कार कर देंगे। सौ-दो सौ रुपये दक्षिणा दिला देंगे। बस इतना ही कर सकते हैं। तुम्हारे किये हुये धर्म का फल देने वाला कौन है ? वह परमात्मा है और *वह* जैसे भीड़ में देखता है वैसे ही बिना भीड़ के भी देखता है। धर्म का फल देने वाला परमात्मा। उसको दिखाने से काम बनेगा नहीं। जब तुम धार्मिक होगे तब काम बनेगा। और जिनको दिखाकर तुम खुश हो रहे हो उनको दिखाने से फायदा कुछ नहीं। इस प्रकार का विवेक जब जागृत होता है, इस प्रकार जब विचार करता है तब तो धार्मिक बनता है अन्यथा धार्मिकत्व का प्रकाशन ही करता रहता है।

भाषा में कहते हैं कि भाई ! अपने पास कोई कमी हो तो उसे बताओ

जिसे बताने पर वह तुम्हें कुछ देकर, कुछ तुम्हारी मदद करके तुम्हें ऊपर उठाये; और जो ऐसा नहीं हो, उसके सामने चुप रहो—

'रहिमन निज मन की व्यथा मन ही राखो गोय।
सुनि इठिलै हैं लोग सब, बाँट न लैहै कोय।।'

अपने मन की व्यथा को अपने मन में ही रखो। अयोग्य व्यक्तियों के सामने प्रकट करोगे तो वे कहेंगे 'ठीक हुआ'। सामने तो कह देंगे 'बुरा हुआ'। बाहर जाकर कहेंगे कि 'अच्छा हुआ, इसके साथ तो ऐसा ही होना चाहिये था।' कोई तुम्हारे दुःख को बाँटेगा नहीं।

इसी तरह जिनको तुम लम्बी संध्या दिखला रहे हो वे देखकर भी तुमको कुछ देने की सामर्थ्य वाले हैं नहीं। उनको दिखाने का फायदा क्या ? उनको दिखाने का क्या फायदा जो उसका कोई तुमको लाभ देने वाले नहीं हैं? हम लोग किसी धार्मिक कार्य को प्रारम्भ करने पर कहते हैं कि सूर्य-चन्द्रमा इसके साक्षी हैं। उनकी साक्षी में कर रहा हूँ, वे हैं देखने वाले। दीपक जलाकर रखते हैं कि इसकी साक्षी है। बाकी इधर उधर मत देखो कि दूसरे कोई साक्षी हैं कि नहीं। जब हम आत्मा ही एकमात्र कर्मफलदाता हैं, उसके सिवाय और कोई फलदाता नहीं है—इस बात के निश्चय वाले होते हैं तब उसके ही सामने धार्मिक बनते हैं। वह हर कृत्य का प्रकाशन करेगा ही। जब तक हमारे मन में रहेगा कि फल देने वाले कोई और हैं तब तक दंभ से बचेंगे नहीं।

कलकत्ते के अन्दर एक सेठजी वैष्णव थे। जो भी उनके यहाँ कार्य करने वाला होता था उसको कहते थे कि 'तुम अपने माथे पर ऊर्ध्व पुण्ड्र (खड़ा तिलक) लगाकर आओ। एक बड़े कट्टर भगवान् शंकर के भक्त थे। वे भस्मी लगा कर जाते थे। सेठजी तो कभी कदाचित् देखते थे, बाकी समय तो काम सब मुनीम देखते थे। सेठजी ने दो-तीन बार त्रिपुण्ड्र देखा तो कहा, 'अरे ! तुम से कहा था ना कि तिलक लगाया करो।' हर बार उन्होंने कहा कि 'ऐसा करेगा तो चलेगा नहीं।' फिर एक दिन देखा तो भस्मी लगाये हुये थे ! उन्होंने कहा 'तुमने फिर तिलक नहीं लगाया ?' वे बोले 'हाँ जी लगाया है।' 'दिखा। दीख तो नहीं रहा।' उन्होंने अपनी कमीज़ बनियान ऊपर उठायी तो पेट पर पूरा तिलक लगा हुआ था ! सेठ ने पूछा 'यहाँ क्यों लगाया है ?' वे बोले, 'जी, यह तिलक लगाना तो इसके लिये है। सिर पर भस्मी तो भगवान् की है। पेट के लिये आपकी नौकरी करनी है इसलिये आपका कहा तिलक पेट पर लगा लिया।'

तुम समझते हो कि सेठजी तुम्हारा पेट भर देंगे तो तुम उस काम को कर देते हो। इसी प्रकार तुम समझते हो कि अमुक आदमी मेरा काम करने वाला है, वह मंदिर में जाने को अच्छा समझता है तो मंदिर में चले जाते हो। इतना ही नहीं आजकल कई जगह लोग जाते हैं जहाँ के बारे में बाद में खुद ही कहते हैं कि 'हमारे मिलने वाले उनको मानते हैं इसलिये हम भी चले गये थे। कुछ समझ में तो बात आयी नहीं। बात तो कुछ नहीं लगी। लेकिन वे अपने थे इसलिये चले गये थे।' यह सब दम्भ है। 'वह मेरा कुछ कर देगा' इसलिये चले गये थे। जिसको पता है कि कर्मफलदाता एक ईश्वर है, कोई सेठ साहूकार कोई बड़े से बड़ा प्रधानमंत्री राष्ट्रपति कुछ तुमको नहीं दे सकता, वह प्रदर्शन के चक्कर में नहीं पड़ेगा। देने वाला तो एकमात्र परमेश्वर है। जैसे मनुष्य लोग नहीं दे सकते वैसे ही दूसरे जीव हैं—चाहे ग्रह हैं, नक्षत्र हैं। और भी कितनों को मानते रहते हैं कि 'शायद यहाँ काम बन जाये, शायद वहाँ काम बन जाये'। जब कभी आकर बात होती है तब यही कहते हैं 'वहाँ गये थे, हमारी इच्छा पूर्ण हो गयी।' जो इस बात को जानता है कि यदि सबकी इच्छा पूर्ण होवे तो जब दो व्यक्ति इकट्ठे जाकर इच्छा पूरी करवायेंगे तो क्या होगा ? वह ईश्वर की इच्छा पर ही सब छोड़ता है।

जब द्वितीय विश्व महायुद्ध हो रहा था तो एक समाचार पत्र निकलता था, अब उसका प्रकाशन बंद हो गया है। उसमें एक व्यंग्य चित्र cartoon निकाला था—गोड, God साहब बैठे हुए हैं। एक तरफ से विलायत वाले खूब प्रार्थनाएँ कर रहे हैं कि युद्ध में हम जीत जाएँ। जर्मनी वाले भी ईसाई हैं। दूसरी तरफ वे भी यही प्रार्थना कर रहे हैं कि हम जीत जाएँ। तो गोड बेचारे बैठे हुए सिर के ऊपर हाथ मार कर कहते हैं, 'O God ! What do I do now ? हे ईश्वर ! अब मैं क्या करूँ ?' उनके ईश्वर की जो समस्या होती होगी वही तुम जिन देवी देवताओं को सोचते हो कि 'यह देवता मेरी अभिलाषा पूरी करेगा' उनकी भी हो जायेगी क्योंकि तुम्हारा दुश्मन भी तो वहाँ पहुँच जायेगा !

कर्मफलदाता परमेश्वर है। न कोई जीव दे सकता है न कोई देवी देवता दे सकता है, न कोई ग्रह नक्षत्र दे सकता है। एकमात्र वह परमेश्वर ही कर्मफलदाता है। इस बात को जो निश्चयपूर्वक जानता है वह तो कभी दम्भ करेगा नहीं। अन्यथा दम्भ होगा।

●

प्रवचन-१७

भूतदाही जो दोष हैं उनका क्या प्रकार है यह विचार कर रहे थे। इनमें क्रोध, हर्ष, रोप, लोभ, मोह, दम्भ का विचार किया। आगे है—द्रोह। द्रोह का मतलब होता है—परानिष्टचिकीर्षा—दूसरे का अनिष्ट करने की इच्छा। क्रोध और द्रोह में एक बड़ा फर्क है। क्रोध में भी दूसरे का ताडन, आक्रोशन आदि करते हैं परन्तु वहाँ क्रिया तात्कालिक है। क्रोध आया और क्रोध से अंतःकरण का क्षोभ होते ही ताडन आक्रोशन आदि क्रिया करा देता है। रोप के अन्दर अनिष्टविषयक मन का विचार है। 'उसका अनिष्ट हो'—यह रोष हुआ। हमने उसको गाली-गुप्ता कर दिया—यह क्रोध हुआ। द्रोह के अन्दर 'दूसरे का अनिष्ट करूँ' ऐसी इच्छा है। अतः यह लम्बे समय तक मनमें संस्काररूप से रहता है। अनिष्ट कर दिया—यह एक बात हुई, 'अनिष्ट होवे'—यह दूसरी भावना हुई। और 'मैं इसका समयानुसार अनिष्ट करूँ'—यह द्रोह है। दूसरे का अनिष्ट करने की इच्छा को द्रोह कहते हैं।

इसका भी योगभूल निर्घात है। यह चूँकि संस्काररूप में बार-बार उद्विग्न करता रहता है इसलिये यह क्रोध की अपेक्षा भी अधिक हानिकारक है। क्रोध ने तो कार्य किया और उसके बाद क्रोध मिट गया। रोष के अन्दर दूसरे के अनिष्ट की इच्छा तो रहती है परन्तु 'मैं उसका अनिष्ट कैसे करूँ' यह नहीं सोचता, दूसरे का अनिष्ट हो जाये—बस इतना ही है। इसमें चूँकि चिकीर्षा है, *करने* की इच्छा है इसलिये इसमें बार बार योजना बनती है। किसी भी काम को करने के लिये जब तुम योजना बनाते हो कि 'मैं कैसे करूँ ?' तो दीर्घकाल तक बार-बार तरह तरह से उसका चिन्तन करना पड़ता है। अतः यह क्रोध और रोष दोनों की अपेक्षा अधिक विक्षेप का कारण अधिक समय तक है। रोष अधिक समय तक तो रहता है परन्तु बीच बीच में आया और क्योंकि उसके बारे में कोई योजना करने की नहीं बनानी है, अतः आया और खत्म हो गया। दीर्घकालीन तो रहेगा लेकिन किसी भी एक समय में थोड़ी देर तक आयेंगा और चला जायेगा। क्रोध आया और जो करना था कर गया। द्रोह में हर बार जब अनिष्ट आयेगा तब उसके साथ ही फिर योजना बनायेगा कि 'मैं कैसे करूँ ?'

इसलिये लम्बे समय तक भी रहेगा और हर बार ज्यादा काल तक भी रहेगा।

यह चिकीर्षा है, करने की इच्छा है—करने का मतलब है कुछ न कुछ परिवर्तन। परिवर्तन करने की इच्छा के बीज में संसार की सत्यता बार बार सामने आती है। किसी चीज का जब तुम ज्ञान करते हो, देखते हो तब उसमें सत्य-बुद्धि करनी पड़े यह जरूरी नहीं। जैसे तुम चित्र देखते हो। चित्र देखने पर तुम चित्र में खिंचे हुये शंकराचार्य को सच्चा मानो यह जरूरी नहीं है। सारा व्यवहार करोगे—'शंकराचार्यजी बड़े सुंदर बने हैं, शंकराचार्य जी को माला पहनाओ, शंकराचार्य जी की पूजा करो।' परन्तु यह सब करते हुये यहाँ शंकराचार्य जी सचमुच बैठे हुये हैं ऐसी वृत्ति बनाना जरूरी नहीं है। परन्तु जब तुम सोचते हो कि शंकराचार्य जी को 'यहाँ से वहाँ बैठाओ' तब उस चित्र के अन्दर (शंकराचार्य जी के विषय में तो नहीं) परन्तु वह जो पदार्थ चित्र है जिसको तुम इधर से उधर करना चाह रहे हो, उसके अन्दर कुछ न कुछ सत्यता की दृष्टि बनती है तभी होता है 'यहाँ से वहाँ करो'। अब चलचित्र आ गये हैं, सिनेमा आ गया है, पहले नाटक हुआ करते थे। नाटकों को लोग देखते थे, यदि कोई बहुत अच्छा दृश्य होता था तो लोग कहते थे 'फिर से एक बार', 'फिर से एक बार' तो नट लोग फिर से वह दृश्य दिखला देते थे। मद्रास के अन्दर एक अभिनेता था जो मरने का बहुत बढ़िया अभिनय करता था। जब मरने के लिये गिरता था तो बहुत अच्छे ढंग से गिरता था। बहुत ही स्वाभाविक अभिनय था उसका। जब कभी वह मरने का दृश्य करता था तब लोग जोर-जोर से तालियाँ बजाकर दो-तीन बार उससे करवाते थे। वह उठता था, फिर मरता था ! अगर कोई खलनायक होता था जिस पर लोगों को गुस्सा आता था, क्योंकि सहृदयता होती है जिससे विकार आते हैं मन में, तो लोग उसको जूते फेंककर मारते थे ! बाद में वह अभिनेता उस जूते को रखता था और कहता था 'यह मेरा सबसे बड़ा पुरस्कार है क्योंकि मेरा जो अभिनय था वह कितना असली था इसको यह प्रमाणित करता है।' नाटक में सब सच्चे लोग हुआ करते थे। उसके बाद चलचित्र आया। पहले पहल देखने लगे तो यही मानते थे कि इसमें भी कोई सामने है ! जैसे एक फ्रेंच लेखक ने लिखा है कि जब पहले-पहल मोटर आयी तो जो सईस था वह ड्राइवर बन गया। वह हमेशा अपने पास चाबुक रखता था और जब गाड़ी को तेज करता था तो साथ में चाबुक भी मारता था ! क्योंकि जो अभ्यास होता है वह जल्दी जाता नहीं। इसी प्रकार लोगों को नाटक देखने का अभ्यास था। चलचित्र दीखता तो वैसा ही था। वहाँ भी शुरू में लोग बड़ी जोर से तालियाँ बजाकर कहते थे 'फिर से', 'फिर से' परन्तु वहाँ क्या फिर से होना है ! वह तो असली है नहीं। इसी प्रकार कई बार खलनायक को जूता मारते थे तो वह जूता वहाँ पर्दे पर लगता था। वहाँ कोई नायक तो है नहीं। थोड़े समय तक चलने पर अन्त में सब को निश्चय हो गया कि यह झूठा है। इसके अन्दर तो जैसा दीखना है वैसा ही दीखेगा। अतः अब उसमें परिवर्तन करने की इच्छा नहीं होती। 'पुनः हो जाये' ऐसी इच्छा नहीं होती। या 'इसको दंडित किया जाये' ऐसी इच्छा नहीं होती। तो अब चलचित्र में आदमी शांति से चुपचाप बैठा रहता है। कोई प्रतिक्रिया नहीं करता।

ठीक इसी प्रकार अभी तक तो हम लोगों को ये सारी चीजें दीख रही हैं नाटक की तरह। बढ़िया रसगुल्ला खाने को मिल गया तो हम चाहते हैं कि ऐसा ही रसगुल्ला फिर खाने को मिले। निमोनिया हो गया, बड़ी तकलीफ हो गयी तो हम चाहते हैं कि यह निमोनिया देखने को कभी न मिले और उसके लिये प्रयास करते हैं। डाक्टर से पूछते हैं, 'डाक्टर साहब बताओ क्या करें कि यह रोग मुझे फिर न हो जाये ?' यह हमारी प्रतिक्रिया होती है। अब जब आत्मज्ञान के द्वारा दृढता आती है तब पता लगता है कि यह तो चलचित्र है, नाटक नहीं है। इसमें तो जो घटना एक बार घट गई ठीक वैसी ही घटना फिर होगी अथवा नहीं यह तो डायरेक्टर जाने। इसमें मैं कोई परिवर्तन कर नहीं सकता, कोई भी प्रतिक्रिया व्यर्थ है। इसी प्रकार यदि हमें दस बार निमोनिया होना है तो होना ही है। नहीं होना है तो नहीं ही होना है। रस्सी में एक बार साँप दीख गया, वैसा ही साँप फिर से देखें यह इच्छा नहीं होती है। रस्सी में हमें बढ़िया हीरों की माला दीख गई। फिर से वह माला दीखे इसके लिये हम कोई प्रयत्न नहीं करते। कई बार दीख भी जाती है, कई बार नहीं भी दीखती है परन्तु अपनी तरफ से उसमें चिकीर्षा नहीं होती कि 'मैं ऐसा करूँ तो मुझे साँप दीख जाये, मैं ऐसा करूँ तो मुझे यहाँ मणियों की माला दीख जाये'। परिवर्तन करने की इच्छा नहीं होती, जो दीख गया सो दीख गया।

इसी प्रकार उस अखण्ड चिन्मात्र परब्रह्म परमात्मा में अज्ञान के कारण जो मुझे दीख रहा है उसमें कोई परिवर्तन करने की इच्छा नहीं हो सकती। जितनी भी चिकीर्षा है, करने की इच्छा है, वह कुछ न कुछ परिवर्तन करने की इच्छा है। जब जब चिकीर्षा उत्पन्न होवे तब इस बात का बार बार चिन्तन करना है कि *चिकीर्षा वहीं हो सकती है जहाँ चीज वास्तविक हो। अज्ञान के द्वारा उत्पन्न चीज में परिवर्तन असंभव होने से इसमें चिकीर्षा करना व्यर्थ है।* जब चिकीर्षा ही व्यर्थ है तो अनिष्ट-चिकीर्षा भी व्यर्थ है ही। चिकीर्षामात्र का विचार हमने इसलिये आप लोगों को बतलाया कि अनिष्ट-चिकीर्षा और इष्ट-चिकीर्षा का भेद जल्दी संभव नहीं है। है जरूर, पर जल्दी समझना संभव नहीं है। क्यों नहीं है ? जो एक का अनिष्ट होता है वह दूसरे का इष्ट अवश्य होता है। ठीक जिस प्रकार सट्टा खेलो, जुआ खेलो, उसमें एक हारेगा तो दूसरा जीतेगा जरूर। सट्टे में यह नहीं हो सकता कि सब हार जायें क्योंकि सब हार जायेंगे तो पैसा जायेगा कहाँ? एक हारेगा तो एक जीतेगा। हारने वाले का अनिष्ट हुआ तो जीतने वाले का इष्ट हुआ। जैसे इस समय भारत वर्ष में हम लोगों में से बहुत से व्यापारी हैं, जानते ही हैं, सब जगह व्यापार ठप्प हो रहा है। उद्योग बंद हो रहे हैं। दुकानों में व्यापार कम हो रहा है। सब जगह व्यापार में इस समय धंधा ठप्प हो रहा है। एक व्यापार की बात नहीं है सारे व्यापारों की है। क्यों हो रहा है ठप्प ? क्या सारा व्यापार ठप्प हो रहा है ? नहीं, सारा व्यापार ठप्प नहीं हो रहा है। क्यों नहीं हो रहा है ? आज से साल-डेढ़ साल पहले अमरीका का व्यापार ठप्प हो रहा था। उनकी बिक्री बंद हो गई थी। अब उन्होंने यहाँ अपना व्यापार फैला लिया। उनकी मंदी recession तो बंद हो गयी। आपका जो पैसा आना बंद हो रहा है वह यह नहीं समझो कि बंद है। वह उनको मिल रहा है इसलिये तुम्हें नहीं मिल रहा है। तुम्हारा नुकसान उनका लाभ है। जब तक तुम्हारा लाभ हो रहा था तुम खुद अपनी चीजों को यहाँ रखते थे और उनकी चीजों को नहीं लेते थे तब उनका नुकसान हो रहा था और तुम्हारा फायदा हो रहा था। कुछ लोगों को लगता है कि अंग्रेजीभाषी ही लोग आदमी हुआ करते हैं, हम लोग तो हिन्दीभाषी लोग हैं, हम लोगों का नुकसान करना तो ठीक ही है ! वे अंग्रेजी बोलने वाले हैं। अंग्रेजी बोलने वाला उन लोगों को अपना ही आदमी समझता है, कहता है—उनका फायदा करो। इसलिये एक का

इष्ट होगा तो दूसरे का अनिष्ट होगा, एक का अनिष्ट होगा तो दूसरे का इष्ट होगा। इसलिये एक दृष्टि से अनिष्ट-चिकीर्षा, दूसरी दृष्टि से वही इष्ट-चिकीर्षा हो जाती है।

यहाँ चिकीर्षामात्र को सोचना है : क्या चिकीर्षा सचमुच ठीक है ? जितना-जितना चिन्तन करके निर्णय करेगा कि परिवर्तन संभव ही नहीं है उतनी-उतनी चिकीर्षा नहीं रहेगी तो अनिष्ट-चिकीर्षा भी नहीं रहेगी। इसको स्पष्ट करने के लिये कह दिया आचार्य ने—परके अनिष्ट की चिकीर्षा। 'मेरा फायदा हो दूसरे का नुकसान हो' तो दूसरे में परबुद्धि उसके प्रति अनिष्टचिकीर्षा को करती है। दूसरा भी आत्मा ही है इसलिये उसका जो अनिष्ट है वह मेरा भी अनिष्ट है। द्रोह को हटाने के दो कदम हुए : रोष के अन्दर दूसरे के अनिष्ट के विषय में मानस विक्रियाविशेष था। द्रोह में वह तो है ही, उसके साथ चिकीर्षा भी है। 'दूसरे का अनिष्ट' इतनामात्र के बारे में जो रोष के निर्घात की प्रक्रिया थी वही प्रक्रिया यहाँ भी काम आयेगी कि 'जिसको मैं दूसरा समझ रहा हूँ उसका अनिष्ट मेरा ही अनिष्ट है क्योंकि आत्मा एक है'। परन्तु जो चिकीर्षा वाला हिस्सा है, जो लंबे समय तक रहता है—जिसको हमने कहा कि बार-बार योजना बनाते हो, planning करते हो कैसे उसकी हानि करें ?—उस चिकीर्षा के निर्घात के लिये विचार करना है कि यह जो मुझे *करने* की इच्छा है यह व्यर्थ है क्योंकि संसार का स्वरूप है ही केवल प्रतीतिमात्र। आत्मा की सर्वरूपता और साथ में जगत् का मिथ्यात्व—इन दोनों को जब बार-बार विचार पथ में लाओगे तब यह द्रोह हटेगा। पर-अनिष्ट की चिकीर्षा अपने ही अनिष्ट की चिकीर्षा है।

जिस समय इन्द्र को आवश्यकता हुई दधीचि की अस्थियों के सहारे से अस्त्र बनाने की—वह बात आप सबको पता ही है कि दधीचि ने सारे अस्त्रों को अपने शरीर में धारण कर लिया था—तब दधीचि से हड्डियों का दान माँगा गया। उन्होंने हड्डियों का दान दे दिया। उस समय उनका लड़का पिप्पलाद बहुत छोटी उम्र का था। जब दधीचि मर गये तब उनकी पत्नी अपने पीहर चल गयी, और कोई घर में था नहीं उनको सँभालने वाला। वहीं जाकर उनका पुत्र पिप्पलाद धीरे धीरे बड़ा हुआ। स्वभाव से जैसे अन्य बच्चे उसके मामा को 'पिताजी' कहते थे वैसे वह भी 'पिताजी'

कहता था। जरा बड़ा हुआ तो जो मामा के लड़के थे, भाई थे, वे बातों बातों में कहने लगे, 'ये तुम्हारे बाप थोड़े ही हैं। ये तो हमारे बाप हैं।' उसने कहा, 'हमारे बाप कैसे नहीं हैं ?' वे बोले, 'पूछ अपनी माँ से। तू हमारी बुआ का बेटा है।' उसने अपनी माँ से जाकर पूछा तो वह बोली, 'नहीं बेटा, ये तुम्हारे पिताजी नहीं हैं। ये मामा हैं तुम्हारे।' उसने पूछा, 'फिर मेरे पिताजी कहाँ हैं ?' उसकी माँ ने बताया 'तुम्हारे पिताजी अब नहीं रहे। मर गये।' 'कैसे मर गये ?' दधीचि की पत्नी ने सारी कथा बतलायी कि देवताओं के कार्य के लिये उन्होंने अपना शरीर दान कर दिया। पिप्पलाद को बड़ा गुस्सा आया कि देवताओं ने उसके पिता को मार दिया ! उसने देवताओं को नष्ट करने की ठानी। उन्होंने अपनी माँ से पूछा, 'पिताजी तुम्हें कुछ तो बता गये होंगे कि किस उपाय से मनुष्य अपने मन की इच्छा पूरी करे ?' उसकी माँ बोली, 'शिवजी की आराधना करो तो सब काम हो जाता है। पंचाक्षर मंत्र के द्वारा संसार में कोई ऐसी चीज—भोग या मोक्ष नहीं है जो प्राप्त नहीं होगी।'

माता ने उसे विधि बतला दी। पिप्पलाद ने पूजा, अर्चना, तपस्या—सब नियम आरम्भ कर दिया। छोटे बच्चे का जो मन है वह होता है बोतल में बंद पारे की तरह। बोतल में बंद पारे को कहीं भी सुविधा से ले जाया जा सकता है। अगर बोतल एक बार गिर जाये, पारा छिलक जाये, उस पारे को इकट्ठा करने की कोशिश करो तो बहुत मुश्किल है। थरमामीटर में थोड़ा सा पारा होता है। कई बार जब थरमामीटर टूटता है तब पारा बिखर जाता है। उस पारे को इकट्ठा करने का प्रयत्न करो तो बड़ा मुश्किल मामला है। इसी प्रकार छोटे बच्चे का मन बोतल में बंद पारे की तरह है : उसको जिधर लगा दोगे, उधर जायेगा। हम लोगों का मन बिखरे पारे की तरह है—चारों तरफ फैला हुआ है, इधर, उधर, कहाँ-कहाँ जाता है क्या ठिकाना ! इसलिये साधना कठिन हो जाती है।

पिप्पलाद बच्चा था। तपस्या में लगा। कुछ ही समय के बाद भगवान् शंकर ने प्रसन्न होकर कहा, 'तू कोई वरदान माँग ले।' उसने कहा, 'महाराज! सारे देवताओं को मैं नष्ट कर सकूँ, वह प्रलयंकारी शक्ति जो आपकी है वह मुझे थोड़े समय के लिये दे दीजिये।' शंकर जी हँसे, 'बेटा, वह शक्ति तेरे काम की नहीं है। और कुछ ले ले।' वह बोला, 'नहीं जी,

मुझे तो इन देवताओं को खत्म करना है। इन्होंने मेरे पिता के साथ बहुत बुरा व्यवहार किया। चाहे जितनी तपस्या करनी पड़े चाहता तो मैं वही शक्ति हूँ।' भगवान् शंकर ने कहा, 'आँख बंद करके थोड़ा बैठ जा।' वह आँख बंद करके बैठ गया। उसको लगने लगा आँख बड़े जोर से जल रही है, कान फट रहा है, हलक सूख रहा है। उसने बड़े जोर से चिल्लाकर कहा, 'भगवन् ! मैं तो देवताओं को नष्ट करने की शक्ति चाहता था। आप तो मुझे ही नष्ट करने लगे।' भगवान् शंकर हँसे, शक्ति वापस ले ली और कहा, 'देख, इसीलिये मैंने तुझसे कहा था न कि यह प्रलयंकारी शक्ति तेरे काम की नहीं है।' बोला, 'फिर आप कैसे सब को नष्ट करते हैं !' भगवान् शंकर ने उसे समझाया, 'सूर्य देवता सारी आँखों का अधिपति है। जब सूर्य देवता, समष्टि जलेगा तो तुम्हारी व्यष्टि आँख बचेगी थोड़े ही ! जब अश्विनी कुमार जलेंगे, तुम्हारी नासिका बचेगी थोड़े ही ! वह समष्टि है और यह व्यष्टि है। समष्टि को नष्ट करोगे तो व्यष्टि नष्ट होना ही है।' पिप्पलाद बोला, 'फिर आप क्या करते हैं ?' उन्होंने कहा, 'मेरा भी यह सब जलता है लेकिन मैं उस परमात्मतत्त्व में स्थित रहता हूँ जहाँ यह सब मेरा स्वरूप है नहीं। इन सबको मैं अपने से सर्वथा कल्पित ही देखता हूँ।'

हम लोग कल्पित स्वप्न से उठते हैं, उठने पर स्वप्न के सारे आदमियों का क्या हुआ ? सब खत्म हो गये। तुम स्वप्न से उठे तो स्वप्न में तुमने जितने आदमी बनाये थे, सब खत्म कर दिये। उठकर रोते हो क्या ? उनके लिये दुःखी होते हो क्या ? क्यों नहीं ? तुम्हें पता है कि वे सारे के सारे मुझसे कल्पित थे। अगर सपने में कोई मर जाता है, तुम्हारी पत्नी मरती है, सपने में तो तुम रोते ही हो क्योंकि तुम स्वयं अज्ञान में हो। परन्तु जब उठ गये तब उस अज्ञान में रहे नहीं इसलिये न उस पत्नी के लिये रो रहे हो, न भाई के लिये रो रहे हो। इसी प्रकार भगवान् शंकर ने कहा, 'मैं तो उस अधिष्ठान तत्त्व में स्थित होता हूँ जिनके अज्ञान से ये सब उत्पन्न हुये हैं इसलिये इनके नष्ट होने से मुझ में कोई विकार आता नहीं। जब तक उस स्थिति में नहीं पहुँचोगे तब तक व्यष्टि-भाव समष्टि-भाव के अधीन रहेगा ही। इसलिये मैंने कहा कि यह तेरे बूते का काम नहीं।'

पिप्पलाद महर्षि ने पर-अनिष्ट-चिकीर्षा की—देवता, जिन्होंने उसका

नुकसान किया उनका अनिष्ट करने की इच्छा, प्रलयंकारी शक्ति प्राप्त करने के द्वारा की—परन्तु उनको पता लग गया कि वह स्वयं मेरे ही नाश का कारण है क्योंकि उसी समष्टि का मैं भी हिस्सा हूँ। इसी प्रकार यहाँ विचार करना है : तुम जिस दूसरे को नष्ट करने की इच्छा कर रहे हो, उसको दुःखी करने की इच्छा कर रहे हो, उसका अनिष्ट करने की इच्छा कर रहे हो वह भी उसी समष्टि का अंश है इसलिये अनिष्ट तुम्हारा भी होना ही है—साक्षात् या परंपरा से। जैसे कार्यालय आदि में बारी-बारी से सब को काम कराने का मौका मिले इसलिये लाइन लगती है। हम तगड़े हैं तो धक्का देकर आगे चले जाते हैं। 'तगड़ा आदमी धक्का देता है'—यह परंपरा तुमने चला दी। यह समष्टि परंपरा हो गई। पच्चीस साल बाद तुम लड़खड़ाने लगते हो। परंपरा तो वही है। अब तुम्हें धक्का देकर दूसरा आगे जा रहा है। होनी तो उस समय प्रसन्नता चाहिये कि 'देखो हमारी कितनी बढ़िया परंपरा चल रही है कि बुड्ढों को धक्का दिया जाता है !' परन्तु अब वही प्रक्रिया हमें अच्छी नहीं लगती क्योंकि जवानी के व्यष्टिभाव को छोड़कर हम बुढ़ापे के व्यष्टिभाव में स्थित हैं। जैसे उस समय धक्का देना था वैसे ही इस समय धक्का खाना है—बात तो एक ही है, कोई फर्क तो है नहीं। जवानी में समष्टि के अन्दर जो प्रक्रिया हमने स्थापित की वही अब हमें मिल रही है। प्रक्रिया की दृष्टि से धक्का देना और धक्का खाना एक ही घटना के दो अंग हैं इसलिये इनमें फर्क नहीं कर सकते। परन्तु व्यष्टिभाव में स्थित रहते यह तो हो नहीं सकेगा।

जब शुरू शुरू में घूस देना प्रारंभ किया तो किस लिये ? हम घूस देंगे तो हमारा काम हो जायेगा। दूसरे के काम में देरी होवे, हमारा काम हो जायेगा। वह पद्धति शुरू कर दी। जब वह घूस की पद्धति समष्टि में फैली तब अब लोग कहते हैं—भ्रष्टाचार corruption हो गया। किसने किया भ्रष्टाचार ? परंपरा तुम्हीं ने चलाई न। सन् '४२ के पहले चोर-बाजारी नाम की कोई चीज ही नहीं थी। परंपरा तुम्हारी चलाई हुई है। कोई पुरानी परंपरा तो है नहीं। जो भी तुम करोगे वह वापिस लौटकर तुम्हारे ऊपर अवश्य आयेगा। उससे बच नहीं सकते। इसलिये करने के पहले तुम पर-अनिष्ट-चिकीर्षा करते हो तो यह निश्चित जानो कि तुम अपने ही अनिष्ट की चिकीर्षा कर रहे हो।

(i) आत्मा की एकता के कारण कोई पर नहीं। (ii) संसार के मिथ्यात्व के कारण चिकीर्षा ठीक नहीं और (iii) किसी का अनिष्ट करोगे तो वह घूमकर तुम्हारे ऊपर ही आयेगा। इस प्रकार बार बार जब मनन किया जाता है तब यह द्रोह का बीज जाता है, पर-अनिष्ट-चिकीर्षा हटती है। परन्तु जब तक यह साधना योगमूलक नहीं होगी, खाली कहते रहोगे—'दूसरे का अनिष्ट मत सोचो, दूसरे का अनिष्ट मत सोचो, बुरी बात है'—तब तक निर्घात नहीं होगा। कुछ देर के लिये तो द्रोह रुक जायेगा परन्तु जब कोई तीव्र कारण आयेगा तब फिर हो जायेगा। इसलिये योगमूलक ही इसका निर्घात संभव है।

आगे कहा **'मृषोद्यम्'**, 'अनृतवचनम्'—झूठ बोलना। कई दोषों के बारे में आप लोगों ने सुना हुआ है और आगे के दोष समझना सरल है इसलिये जल्दी जल्दी बता देते हैं। जैसा मैंने सुना, समझा, देखा, अनुभव किया वैसा दूसरा न समझे, न देखे, न अनुभव करे—इस उद्देश्य से जो बोला जाता है उसको मृषोद्य कहते हैं, झूठ कहते हैं। कई बार बात सच कहेंगे परन्तु इस ढंग से कहेंगे कि दूसरा आदमी गलत समझे। 'देवदत्त की बात सुनाऊँ ? जाने दो तुम सुनकर क्या करोगे !' यहाँ कुछ गलत नहीं कहा है देवदत्त के बारे में। कोई बुरी बात तो कही नहीं है। देवदत्त भी पूछे कि 'मेरे बारे में क्या कहा ?' तो कहना पड़ेगा 'तुम्हारे बारे में कुछ नहीं कहा।' यह भी सच्ची बात है। परन्तु दूसरे को उसने जता दिया कि देवदत्त की किसी अत्यन्त बुराई का पता उसे है और दूसरा भी जानता है कि इसी उद्देश्य से उसने कहा है। ऐसी बातें भी मृषोद्य में आती हैं। मैंने जैसा देखा, जैसा समझा, जैसा सुना, जैसा अनुभव किया वैसा ही तुम समझ सको, अनुभव कर सको इस उद्देश्य से जो कहा जायेगा वह अनृत वचन नहीं है। इससे भिन्न-दृष्टि से कहा जायेगा तो वह अनृत वचन है। दूसरे के प्रति तुम इसीलिये गलत बात कहना चाहते हो कि तुम उसमें परायी दृष्टि करते हो और कोई न कोई किसी न किसी का नुकसान करना चाहते हो अपने लाभ के लिये। कोई आदमी अपने नुकसान के लिये झूठ नहीं बोलता, हमेशा अपने फायदे के लिये ही झूठ बोलता है। कई बार लोग कहते हैं 'महाराज! मैं तो स्वभाव से झूठ बोल देता हूँ।' हम कहते हैं कि 'तुम गत दस दिन के जीवन में कोई एक घटना बताओ जहाँ तुमने अपने

नुकसान के लिये स्वभाव से झूठ बोला हो ?' स्वभाव से झूठ बोलता तो अपने नुकसान के लिये भी झूठ बोल देता ! यह स्वभाव से कभी नहीं होता, यह तो समझ-बूझकर होता है।

अत्याश—'अतिमात्रमशनम्'—अत्यधिक मात्रा में खाना; शरीर के उपयोगी जितना नहीं है उससे अधिक खाना यह अति-अशन है। पहले यह समझ लो कि संसार में परमेश्वर ने खाने के लिये जो चीजें बनाई उन पर पशु-पक्षी, कीट-मकौड़ा सब का अधिकार है। तुम जब अधिक खाओगे तो किसी न किसी का हिस्सा मारकर खाओगे। इसलिये जब हम अत्यशन करते हैं, अत्यधिक खाते हैं तब हम अवश्य समष्टि के अन्दर विक्षेप करते हैं। दूसरी बात—वह खायी हुई चीज हमारे अन्दर तमोगुण लायेगी। तमोगुण आने पर हमारा मोह बढ़ेगा, अविवेक बढ़ेगा, निद्रा आलस्य इत्यादि बढ़ेगी। निद्रा-आलस्यादि काल में हम अपने स्वरूप में स्थित नहीं रह सकते, मनन करना ही असंभव हो जायेगा। इसलिये हमेशा उतना ही खाना चाहिये जितना शरीर को ठीक से पुष्ट रखे। उससे कम खाओगे तो भी शरीर में विकार आयेगा, उससे ज्यादा खाओगे तब भी शरीर में विकार आयेगा। ज्यादा खाओगे तो शरीर के साथ मन में भी विकार आयेगा इसलिए अत्यशन को भी यहाँ उन दोषों में गिनाया जो आत्मचिंतन में रुकावट डालते हैं।

बाकी विक्षेपों में तो रजोगुण की प्रधानता है। अत्यशन के अन्दर तमोगुण की प्रधानता है। दूसरी चीजें विक्षेप करके कुछ प्रवृत्ति कराती हैं, यह विक्षेप करके प्रवृत्ति तो नहीं करवायेगा परन्तु मोह आलस्य के द्वारा यह तुम्हारे अज्ञान के आवरण को बढ़ायेगा, तुम्हारी चिन्तन-शक्ति को कम करता चला जायेगा।

परीवाद—किसी आदमी के सामने उसके दोष को बताना बुरा नहीं है। परन्तु—'असमक्षं परदोषाभिधानम्' वह आदमी सामने न होवे तब उसके दोष को बतलाना यह परीवाद है, दुर्गुण है। दोष बतलाया जाता है ताकि दोषी व्यक्ति अपने दोष को सुधार ले। यही दोष बताने का उद्देश्य हो सकता है। जब उसके सामने बताते हो तब तो संभावना है कि वह सुधार ले। दूसरे को उसका दोष बतलाने की क्या जरूरत है ? वह तो

केवल यह बतलाने के लिये कर रहे हो कि लोग उसके दोष को जानें और तुम्हें अच्छा मानें ! यहाँ पर तमोगुण और रजोगुण दोनों का मेल है पर तमोगुण प्रधान है। तमोगुण प्रधान इसलिये है कि इसमें तुम एक बात को बिल्कुल भूल जाते हो कि जब तुम दूसरे के सामने किसी का दोष बताओगे तो सामने वाला बुद्धिमान् जान लेता है कि 'इसकी आदत है दूसरे का दोष बताने की; सच्ची बात होती तो सामने कहता।' इसलिए जो तुम्हारा उद्देश्य है वह भी पूरा सफल नहीं होता। और जो तुम सोच रहे हो कि 'उसके सामने नहीं कहा है तो उसको पता नहीं लगेगा', यह भी कभी नहीं हो सकता। जिसको कहोगे वह साक्षात् या परंपरा से वहाँ तक बात पहुँचायेगा ही ! न तुम्हारी समझ में यह आ रहा है कि इसके द्वारा मेरे को ही झूठा समझा जायेगा, न यह समझ में आ रहा है कि मैं छिपाने के लिये जो कोशिश कर रहा हूँ वह कभी सफल होने वाली नहीं इसलिये इसमें तमोगुण का अंश है। और चूँकि तुम कथन कर रहे हो इसलिये रजोगुण का अंश भी है। इस तरह पहले रजोगुण की दोषरूप प्रक्रियाएँ बताईं, फिर तमोगुण की दोषरूप प्रक्रिया बताई, फिर तमोगुण और रजोगुण दोनों जिसमें मिले हुये हैं उस दोष को बतला रहे हैं।

असूया—असूया कहते हैं दूसरे के गुणों को सहन न कर सकना। दूसरे के अन्दर गुण देखकर मन में जो भावना होती है कि—'उसमें यह गुण क्यों है ?' समाज में कहीं भी गुण होगा तो वह गुण कभी न कभी मेरे भी लाभ का काम करेगा। समाज में कहीं भी दोष होगा तो वह कभी न कभी मेरे दुःख का कारण होगा। दूसरे के गुणों को देखकर होनी तो चाहिये प्रसन्नता कि यह गुण कभी न कभी मेरा भी लाभ करेगा। मान लो कोई आदमी दानी है। कभी मुझे भी जरूरत पड़ेगी तो देगा। पर यदि है ही कंजूस, मक्खीचूस तो मेरे को भी जरूरत पड़ने पर बेकार ही सिद्ध होगा। दूसरे के गुणों को सहन न कर सकना—इसमें तमोगुण के कारण है कि वस्तुतः देख नहीं सकता कि गुण सदा लाभकारी ही होता है; और इसके अंदर रजोगुण का विक्षेपांश भी है क्योंकि दूसरे के गुणों के विरोध में अपने अन्दर वृत्ति बनती है, दूसरे के ऊपर उस गुण के निमित्त से दोष मढ़ देता है।

किसी आदमी ने धर्म के कार्य में २५ हजार रुपये खर्च किये। कई

बार हम देखते हैं, जब कहते हैं 'भाई ! उसने यह काम किया', तब तुरंत जो दूसरे बैठे होते हैं वे कहते हैं कि 'ब्लैक के पैसे से किया होगा।' मान लिया की ब्लैक के पैसे से किया। क्या जो होटल में जाकर खाता है वह ब्लैक का पैसा इस्तेमाल नहीं करता ? यह तो नियम नहीं है कि ब्लैक का पैसा धर्म में ही लगता है। ब्लैक का पैसा होटल में लगाने की अपेक्षा यदि ब्लैक का पैसा धर्म में लगा तो इसने उतना सदुपयोग ही किया न! परंतु असल में असूया है, सहन नहीं हो रहा है। क्योंकि खुद करना नहीं है इसलिये वह विक्षिप्त होता है कि मैं नहीं कर रहा हूँ—यह बात प्रकट होगी। अतः एक तरह की दीवाल बना देता है : उसके किये को 'ब्लैक से किया' के द्वारा ढाँक कर अपनी भलाई समझता है, इसलिये इसमें रजोगुण का भी अंश है।

'काममन्यू'—काम प्रसिद्ध ही है—स्त्री की अभिलाषा। मन्यु—परस्त्री की तरफ दृष्टि होनें पर उसमें कोई विघात पैदा करे, उसके प्रति जो मन का विकार है वह मन्यु है। यह तो स्पष्ट है ही। सब जानते ही हैं।

अनात्म्य 'अनात्मवत्ता'—अधिक से अधिक अनात्म-पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील होना।

ये सारे के सारे क्या हैं ?—अयोग, ये सब योग-विरोधी है। योग के द्वारा ही इनाक निर्घात होता है।

आगे इनके विरोधियों को गिना देते हैं—

'अक्रोधोऽहर्षोऽरोषोऽलोभोऽमोहोऽदम्भोऽद्रोहः
सत्यवचनमनत्याशोऽपैशुनमनसूया संविभागस्त्यागः
आर्जवं मार्दवं शमो दमः सर्वभूतैरविरोधो योग
आर्यमानृशंसं तुष्टिरिति सर्वाश्रमाणां समयपदानि।
तान्यनुतिष्ठन् विधिना सार्वगामी भवति।।१४।।'

पहले जितने दोष आये थे उनकी जो विरोधी वृत्तियाँ हैं उनको योग में गिना दिया—अक्रोध; अहर्ष; अरोष; अलोभ; अमोह; अदम्भ; अद्रोह; सत्यवचन—दोष झूठ बोलना था उसकी जगह योग हुआ सत्यवचन; अनत्याश—अधिक नहीं खाना; अपैशुन—पिशुनता अर्थात् चुगलखोरी नहीं

करना, परीवाद जो पहले कहा था उसका विरोधी; अनसूया—असूया नहीं करना, दूसरे के गुणों को सहन न करने वाली वृत्ति नहीं बनाना। ये सारे हैं 'योग', दोषों के विरोधी। इसके आगे किन भावों को और लाना चाहिये जो उस योग को पुष्ट करने वाले हैं उन्हें कल बतायेंगे।

●

प्रवचन-१८

अयोग और उन के जो विरोधी उन्हें बतलाया। जिन सबको छोड़ना है उनके विरोधी प्रत्यय अक्रोध आदि बतलाये। अब आगे करना क्या है, विधि क्या है ? क्या नहीं करना है वह बताया। अब आगे क्या करना है वह बतलाते हैं; जो करने से आत्मानुभव के स्पंदन उत्पन्न करने में जो विक्षेप हैं वे निवृत्त होकर ज्ञान की निष्ठा, ज्ञान की स्थिति बनती है। अभी तक जो बतलाये वे नहीं करने हैं और आ जायें तब उन्हें कैसे हटाया जाये यह अक्रोध आदि से समझाया।

अब बताते हैं जीवन कैसे चलाना—

'संविभागस्त्याग आर्जवं मार्दवं शमो दमः सर्वभूतैरविरोधो योग आर्यमानृशंसं तुष्टिरिति सर्वाश्रमाणां समयपदानि। तान्यनुतिष्ठन् विधिना सार्वगामी भवति।।१४।।'

संविभाग—किसी चीज को देना। देना दो प्रकार की चीजों का होता है—एक तो जिस चीज पर अपना स्वत्व है अर्थात् जो चीज अपनी है उस पर से अपनी सत्ता हटाकर दूसरे की सत्ता को आपादन करना। दान का मतलब, देने का मतलब एक तो यह प्रसिद्ध दान है : जो तुम्हारी अपनी चीज है, तुम्हारे अपने अधिकार की चीज उसके अन्दर तुम दूसरे की सत्ता स्थापित करते हो और अपनी सत्ता हटा लेते हो कि अब इससे मुझे कोई मतलब नहीं। जैसे कन्यादान है। माता पिता की कन्या है। उस पर से तुमने अपना अधिकार हटा लिया—अब यह मेरी नहीं, अब मैं जिसको दे रहा हूँ, उसकी है। उसका अधिकार हो गया। उसीका गोत्र, उसकी संपत्ति, उसीकी सब चीजों की वह अधिकारिणी हो गई। इसलिये दान देने में विचार करना पड़ता है—देश, काल, पात्र का। ठीक देश में दान होवे, ठीक काल में दान होवे व ठीक पात्र को दान होवे। दान चाहे जिसको नहीं किया जा सकता। अगर यह सोचोगे कि यह बेचारा अंधा, लूला, लंगड़ा है, इसको सँभालने वाला नहीं है, मैं अपनी लड़की इसको दे दूँ—तो उसको *कन्यादान* नहीं माना जायेगा। वह तो दया करके तुमने कन्या को दे दिया। वह दया तो हो सकती है परन्तु दान नहीं होगा। दान में जिस पात्र को दे रहे हो

चुका है कि तितिक्षा करना श्रेष्ठ है, कष्ट सहना श्रेष्ठ है। जबकि वह अंतःकरण इस बात को जानता नहीं है, अभ्यास कर नहीं चुका है। चाहे शाल मेरे ऊपर रहे चाहे इसके ऊपर रहे दुःख तो एक जैसा ही होना है। परन्तु इतना फर्क है कि यह अंतःकरण तितिक्षा के महत्त्व को जानता है और वह अंतःकरण नहीं जानता। इसलिये वह उसको अधिक दुःख समझेगा। अतः उसका दुःख दूर हो जाये इसलिये शाल दे देना संविभाग हुआ।

संविभाग यहाँ तक होता है : भगवान् शंकर का एक भक्त था। कोई भी भूखा भक्त आवे वह उसे जरूर भोजन कराता था। उस साल खेती कुछ कम हुई। उसका खेती का काम था। जब खेती कम हुई तब भोजन मांगने लोग भी ज्यादा आये। धीरे-धीरे जितना भी उसका अन्न था, चावल था सब खत्म हो गया था। उधर चावल बीजने का मौसम आ गया—धान की खेती थी। एक दिन पानी ठीक बरस गया तो उसने उन चावलों को जाकर खेत में बो दिया। उस बात को दो दिन हो गये। खूब वर्षा चल रही थी। शाम के समय काँपते हुये कोई महात्मा आ गये। कहने लगे, 'बड़ी भूख लगी है। कुछ खाने का इंतजाम कर दो।' उन्होंने कहा, 'आप जरा बैठिये।' घरवाली से पूछा कि 'क्या हाल है ?' उसने कहा कि 'तीन दिन से अपने घर में अपने लिये ही भोजन नहीं बना है ! अन्दर तो कुछ होने की संभावना ही नहीं है।' आपस में विचार करने लगे। भयंकर अकाल था तो किसी अड़ौसी-पड़ौसियों के यहाँ भी दो दिन से भोजन नहीं बना था, किसी के घर में एक दिन से अनाज नहीं था। जो व्यापार कर रहे थे उनसे तो यह पहले ही ले आया था उधार खाते में, बाँटने के लिये ! उनसे भी और मिलने की संभावना नहीं थी। और लोगों की भी हालत इसके जैसी ही खस्ता थी। लगने लगा कि इस महात्मा को मना करना पड़ेगा। जैसा वह भक्त था वैसी ही उसकी पत्नी भी थी। पत्नी ने कहा, 'अभी परसों ही तो आपने अनाज बोया है। अभी वह चावल गला तो होगा नहीं, फूटा तो होगा नहीं वह धान। जाकर उसको इकट्ठा करके ले आइये।' इसका मतलब हुआ कि आगे भी खेती हो नहीं सकेगी ! पत्नी ने यह कहा तो पति बोला कि 'बात तो तुम्हारी ठीक है, आगे की आगे देखी जायेगी।'

बरसते पानी में रात के समय बोये हुये जितने चावल निकाल सका

वह पात्र भी श्रेष्ठतम होना चाहिये, जो तुम्हें सबसे श्रेष्ठ लगे। इसी प्रकार—यह नहीं कि खर मास चल रहा है, धनु की संक्रांति चल रही है, उसी में लड़की का ब्याह कर दो ! यह नहीं करते हो। योग्य काल का पता लगाते हो—कैसा काल ठीक है। देश का भी विचार करते हो। योग्य देश में दो। दिल्ली में बढ़िया स्कूल के अंदर पढ़ाया, अपने घर में बड़ी की, अच्छे घर की लड़की है। पात्र भी तुमने योग्य देख लिया। काल भी योग्य देख लिया। लेकिन छोटे से गाँव के अन्दर रहने वाला आदमी है। वह वहाँ सुखी होगी क्या ? देश का भी विचार करना पड़ता है—यह कहाँ जाकर ठीक रहेगी।

जैसे कन्यादान में विचार करते हैं, वैसे ही सभी दान में—'देशे काले च पात्रे च'—तीनों चीजों का विचार करते हैं। उस चीज के लायक अधिक से अधिक अच्छा देश होवे, कुरुक्षेत्र आदि, अधिक से अधिक अच्छा काल होवे संक्रांति आदि, योग्य से योग्य पात्र होवे वैदिक ब्राह्मण होवे। अपने स्वत्व को हटाकर दूसरा जो हमसे श्रेष्ठ है उसको जब देते हैं तब तो वह दान हुआ।

देना तो संविभाग भी है लेकिन यह दान से एक कदम आगे की चीज है। 'आत्मनो यात्रासाधनस्यार्थिभ्यः संविभजनम्' दान में अपनी चीज़ तो देते हो लेकिन जो तुम्हारी अपनी जीवन-यात्रा के लिये साधन है वह नहीं देते हो। हमारे पास शाल है। सर्दी का मौसम है। हमारा स्वत्व है। दूसरे को उस शाल की आवश्यकता है और मुझे भी आवश्यकता है लेकिन अपनी जरूरत की चीज को भी किसी ने आकर अर्थना कर ली, माँग लिया, हमने दे दिया। 'मुझे ठंड लगेगी'—इसकी भी चिंता जहाँ न होवे उसको कहेंगे 'संविभागः'। संविभाग का मतलब हुआ अपने जीवन यात्रा के साधन की जो चीज है उसको भी जो चाहता है, मांगने आया है या आवश्यकता वाला दीख रहा है, उसे देना। यह दान से कठिन है, इसलिये दान की अपेक्षा भी संविभाग श्रेष्ठ है।

संविभाग वह नहीं कर सकता है जिसने योग को पहले प्राप्त नहीं कर लिया है कि जैसा मेरा ठंडा रहना वैसे इसका ठंडा रहना। आत्मा एक है। यह ठंडा है या मैं ठंडा हूँ इसमें कोई फर्क नहीं है—कोई न कोई शरीर ठंडा है। परन्तु यह शरीर और अंतःकरण तो इस बात का अभ्यास कर

वह निकाल कर लाया। उसके मकान के अन्दर इमली का पेड़ लगा हुआ था। उस इमली के पत्ते इत्यादि लेकर साग बना दिया। वह चावल पका कर भोजन परोसकर रखा तो देखा कि उस महात्मा के सिर के ऊपर गंगाजल है, चन्द्रमा है, त्रिनेत्र है—साक्षात् भगवान् शंकर हैं ! प्रसन्न होकर वे बोले, 'तुम्हें क्या चाहिये ?' उसने कहा कि 'महाराज! आपके दर्शन हो गये, और क्या चाहिये! और तो कोई चीज चाहिये नहीं।' भगवान् शंकर बोले, 'फिर भी, तुम पर प्रसन्न हुआ हूँ, कुछ तो माँग लो।' तब वह भक्त बोला 'जितने भी हमारे आस पास के गाँव के लोग हैं इनके मटके अनाज से भर जायें।' भगवान् बोले कि 'इनके मटके तो तुम्हारे कहने से भर देता हूँ और तुम्हारा मटका मैं भर देता हूँ। वह अक्षुण्ण रहेगा। जितने दिन तक तुम लोगों को खिलाते रहोगे तब तक वह समाप्त नहीं होगा और अन्तमें तुम मेरे परम धाम को आओगे।'

जिसके दे देने पर आगे साल भर की समस्या उपस्थित हो जानी है वह हुआ अपनी यात्रा का साधन, वह भी अर्थी को देना—इसका नाम है संविभाग। यह तभी संभव है जब पहले योग की प्राप्ति होवे, जब यह समझ में आवे कि वस्तुतः एक ही चेतन सर्वत्र है। जो भेद हमें दीख रहा है वह अंतःकरण के कारण दीख रहा है। अंतःकरणों में जो अंतःकरण तितिक्षा इत्यादि से युक्त है वह जिस कष्ट को सहन कर सकता है उसे जो तितिक्षा इत्यादि से युक्त नहीं है वह सहन नहीं कर सकता। इतना ज्ञान हो तब संविभाग होता है।

त्याग—दूसरा योग बतलाया त्याग। 'दृष्टादृष्टेष्टभोगानां शक्तितः परित्यजनं, तत्साधनानां च'। त्याग का क्या अर्थ ? त्याग में और देने में फर्क है। देने में तो तुम चीज किसी दूसरे को देते हो; अपनी सत्ता हटाते हो और दूसरे की सत्ता का आपादन करते हो। त्याग के अन्दर छोड़ना है। देने की समस्या यहाँ नहीं है। दृष्ट भोग जो यहीं देखने में आते हैं : बढ़िया मकान, बढ़िया शाल इत्यादि—ये सब दृष्ट भोग हुये। अदृष्ट भोग हुये स्वर्गादि। चाहे दृष्ट इष्ट भोग हैं और चाहे अदृष्ट इष्ट भोग हैं सबका त्याग। यद्यपि 'दृष्ट और अदृष्ट भोग का त्याग' कह सकते थे लेकिन दृष्ट अनिष्ट भोगों का त्याग तो सब करने को तैयार बैठे हैं ! इसलिये भाष्यकारों ने स्पष्ट करने के लिये 'इष्ट' कहा। यदि कहेंगे—'दृष्टादृष्टभोगानां'

तो लोग कहेंगे बीमारी है, गरीबी है ये सब दृष्ट भोग हैं। इन्हें भी तो भोगना ही पड़ता है, दुःख भोगना ही पड़ता है। इसका त्याग करते हैं—हमें दुःख नहीं भोगना पड़े। इसी प्रकार अदृष्ट नरकादि हमें नहीं जाना, हो गया त्याग। ऐसा भी त्याग होता है।

एक आदमी था। जरा कंजूस ज्यादा था। पत्नी बार-बार उससे कहे कि एक बार तो हरद्वार चले चलो। वह टाल दे। टालते टालते दोनों बुड्ढे हो गये। तब भी वह किसी को देता-लेता कुछ था नहीं। जब बुड्ढा हो गया तो सोचा कि 'यह बेचारी जन्मभर हरद्वार जाने को कहती रही है तो चले चलते हैं'। पत्नी से कहा 'तू कहती है तो हरद्वार चलते हैं।' हरद्वार गये। हरद्वार में जब स्नानादि करते हैं तो तीर्थों में लोग कहते हैं कि 'यहाँ कोई चीज छोड़कर जाओ।' जिसको जो इष्ट पदार्थ होता है उसे वह छोड़ देता है—कोई कहता है कि 'मीठा छोड़ दिया', कोई कहता है 'मैंने नमक छोड़ दिया, मैं जन्मभर नहीं लूँगा।' जब उससे कहा तो उसने कहा 'आज से मैंने तीर्थयात्रा का त्याग किया। कभी तीर्थयात्रा में नहीं जाऊँगा।'

यदि खाली कहें 'दृष्टादृष्टभोगानां परित्यजनं' तो अनिष्ट पदार्थों का त्याग करने के लिये लोग तैयार हैं ही। तरह तरह के लोग होते हैं।

एक हमारे सज्जन थे। कभी किसी गरीब की, चाहे जितना उनका नजदीकी रिश्तेदार हो उसकी मदद नहीं करते थे। उनकी पत्नी हमें बार-बार कहती थी कि किसी तरह से समझायें। कई बार उनसे बात होती थी, आते थे। एक बार हमने उनसे कहा तुम्हारी पत्नी ऐसा कहती है कि तुम कभी किसी को सहायता नहीं देते, चाहे जितने कष्ट में हों कभी किसी के कष्ट की निवृत्ति का प्रयत्न नहीं करते। ऐसा तो नहीं करना चाहिये। कहने लगा, 'नहीं स्वामीजी। मैं धार्मिक व्यक्ति हूँ। मैं धर्म के विरुद्ध काम नहीं करना चाहता।' हमने कहा कि इसमें धर्म से विरुद्ध क्या है ? वह बोला 'देखिये, अगर कोई चोर भाग रहा है और उसको मैं छिपा लूँ तो मैं अपराधी माना जाऊँगा कि नहीं ? पुलिस मुझे पकड़ेगी कि नहीं ? सरकारी नियम का विरोध होगा कि नहीं ?' हमने कहा कि वह तो होगा। तब वह बोला, 'उस व्यक्ति ने कोई पाप किया। परमेश्वर उसको अब दण्ड दे रहा है। उनके दण्ड को मैं कम कर देता हूँ उसको चीज देकर तो परमेश्वर के नियम का उल्लंघन हुआ कि नहीं ? धर्म तो परमेश्वर का नियम है।'

इसलिये स्पष्ट किया—'दृष्टादृष्ट-इष्ट-भोगानाम्' जो दृष्ट भोग और अदृष्ट भोग तुम्हें इष्ट हैं, अच्छे लगते हैं उनका 'परित्यजनम्' उनका छोड़ना त्याग कहा जाता है।

कहोगे 'जीवन यात्रा तो दृष्टादृष्ट इष्ट भोग के बिना नहीं चलेगी।' इसलिये कहा 'शक्तितः' अपनी सामर्थ्य के अनुसार। जितने दृष्ट, अदृष्ट इष्ट भोगों को छोड़ सको उतने छोड़ो। यहाँ दूसरे को देने की बात नहीं है, स्वयं भोग का अपने लिये प्रयोग करना या नहीं—इतना ही है। मोटी भाषा में, जितनी अपनी आवश्यकतायें कम कर सको कम करो। आज का नारा है—अपनी आवश्यकतायें जितनी बढ़ा सको बढ़ाओ। पहले घर में चार साड़ियाँ आ गई तो बहुत हैं। कच्चे रंग का प्रयोग होता था। श्रावण का महीना आया तो उसको हरे रंग में रंग लिया। दस-पाँच बार धोया, वह रंग तो साफ हो गया। बसंत पंचमी आ गई तो उसको बसंती में रंग लिया। दस-पाँच दिन धोकर साफ हो गया। एक ही से सारा काम चल जाता था। चार साड़ियाँ हैं—एक धो ली, एक सुखा ली, काम चल जाता था। अब उसकी जगह आया पक्का रंग। अब तुम्हें हरे रंग की अलग साड़ी चाहिये, पीले रंग की अलग साड़ी चाहिये। कोई दुःख आ जाये तो तुम्हें काले रंग की अलग साड़ी चाहिये। इस तरह आवश्यकताओं को बढ़ाया। अब स्वभावतः प्रश्न होगा 'एक से कैसे काम चला लिया जाये?' आज हर चीज में मनुष्य यह सोचता है कि मेरी आवश्यकतायें बढ़ती जायें।

त्याग का मतलब है अपनी आवश्यकताओं को *कम* करते जाना। इसलिये कहा 'शक्तितः'। बिल्कुल भूखा प्यासा रहकर तो जीवन व्यतीत नहीं होगा। अपनी सामर्थ्य के अनुसार घटा जरूर सकते हो। लेकिन हर दिन, हर महीने सोचो कि मैंने कुछ त्याग किया या नहीं। पहले से कुछ घटाया या नहीं अपना भोग। भोग का तो त्याग करे ही—'तत्साधनानां च'। कुछ लोग होते हैं जो अपने ऊपर खर्च तो नहीं करते हैं लेकिन उन पदार्थों की प्राप्ति का जो साधन है वह बैंक में बढ़ाते रहते हैं। बैंक बैलेन्स (bank balance) तो बढ़ता रहता है, खर्च अपने ऊपर नहीं करते। वह भी त्याग में नहीं आयेगा क्योंकि साधनों को तो रख रहे हैं न। इसलिये दृष्ट-अदृष्ट इष्ट भोग का भी त्याग करे और उस भोग की जिन साधनों

से प्राप्ति होती है, सामर्थ्य के अनुसार उन साधनों का भी त्याग करे। यह भी तभी हो सकता है जब योग का बल होगा। सारे दृष्ट अदृष्ट इष्ट भोग क्या देंगे ? सुख देंगे। वह सुख तो मेरा स्वरूप है। उसे कोई देने वाला है नहीं। जो इष्ट बुद्धि है कि 'यह भोग मेरी इच्छा का विषय है' उस इच्छा के कारण हमारे अपने आत्मसुख के ऊपर ढक्कन आ जाता है। जब वह पदार्थ मिलता है तब ढक्कन हट जाता है। जब हमें पता है कि सुखस्वरूप तो मैं हूँ तब दृष्टादृष्ट इष्ट हुआ आत्मसुख। उसका भोग इच्छा हटने से होता है, अतः जितना-जितना इच्छा हटती जायेगी उतना-उतना आत्मसुख अपने आप प्रकट होगा। 'पदार्थों से मुझे सुख प्राप्त होगा'—जब तक यह अज्ञान निवृत्त नहीं होगा तब तक त्याग नहीं बनेगा। सुख का साधन क्या है ? इच्छा-निवृत्ति। भोग में भी चीज मिलकर इच्छा निवृत्त हुई, उसीसे न सुख हुआ। बीस रसगुल्ले खाने के बाद अब मीठा खाने की इच्छा निवृत्त हो गई। फिर रसगुल्ला सुख नहीं देगा। सुख का कारण इच्छा-निवृत्ति। दूसरे किसी साधन को इकट्ठा करने की जरूरत क्या है ? 'शक्तितः'—यह एक दिन में होने वाली चीज नहीं है क्योंकि रोज की जीवन की आवश्यकतायें हैं। जितनी-जितनी हमारी तितिक्षा और इच्छा-निवृत्ति होती जायेगी उतना-उतना ही हमारा त्याग बढ़ता जायेगा।

आर्जव—सरलता। सरलता का भी अर्थ कर दिया—'अदुष्टाकलनपूर्विका वाङ्मनःकायानां प्रवृत्तिः'—वाणी मन और शरीर से जो प्रवृत्ति करे उसे ऊपर कहे हुये जो भूतदाहीय दोष हैं उन सारे दोषों से रहित रखे। उन दोषों से आकलन करके, उनसे मिलाकर शरीर वाणी मन की प्रवृत्ति न करे, जो क्रोध, रोष, हर्ष, लोभ इत्यादि गिनाये थे उनसे प्रवृत्ति न करे। उन सबके बिना प्रवृत्ति करे। उसीका नाम सरलता है। वाणी शरीर मन से जो प्रवृत्ति होवे क्रोध, हर्ष, लोभ, रोष इत्यादि विकारों से ग्रस्त हुये बिना होवे। आत्मविचार करने पर ये दोषरूप से पता लगते हैं, अन्यथा ये *दोष* पता ही नहीं लगते हैं। जब तक आत्मविचार नहीं करेगा तब तक कहता है कि 'महाराज ! क्रोध किये बिना काम नहीं होता है। नौकरों को नहीं डाँटो तो काम होता नहीं है।' आत्मविचार करने वाला जानता है कि काम हुआ तो क्या, काम नहीं हुआ तो क्या !

एक महात्मा थे वृंदावन में—उड़िया बाबा। वहाँ धीरे-धीरे आश्रम बन

गया। आश्रम में लोग होते हैं तो कई प्रकार की बातें हो जाती हैं। लोग उनसे कहते थे कि 'महाराज ! आप जरा लोगों को समझाइये।' एक बार कहने लगे कि 'आप दण्ड नहीं देते हैं इसलिये व्यवस्था बिगड़ती है।' उन्होंने कहा, 'देखो भाई, अपनी जान मैं तो उनको समझाता ही हूँ।' वे लोग बोले कि 'समझाने से थोड़े ही होता है। डाँटना पड़ता है।' उन्होंने कहा कि 'यदि तुम चाहते हो कि दूसरे को सुधारने के लिये मैं अपने को बिगाड़ूँ—अर्थात् मैं क्रोधी होकर फिर उनको सुधारूँ—तो मैं अपने को बिगाड़ने के लिये तैयार नहीं हूँ।'

क्रोध, हर्ष, रोष, लोभ, मोह इत्यादि के बिना काम चलता नहीं। यह वही कहेगा जिसने आत्मविचार करके पहले इसको जाना नहीं है कि लाभ कहते किसे हैं, काम चलना कहते किसको हैं ? काम चलने का मतलब है आत्मशांति की प्राप्ति। यदि आत्मशांति की प्राप्ति नहीं हुई तो काम चलाने का क्या प्रयोजन ? तुम्हारा सारा काम अनादि काल से चला रहे हो, अब तक कहाँ पहुँचे ? जब आत्मविचार के द्वारा इस योग की प्राप्ति हो गई कि—'नेह नानास्ति किंचन' तब पता चलता है कि यह सब करके भी कुछ नहीं होना है यदि आत्मशांति नहीं मिली तो। इसलिये सरलता तब तक नहीं आ सकती जब तक योगमूलकता नहीं होगी। अन्यथा आजकल लोग कहते ही हैं कि 'महाराज ! सीधे रहने का जमाना नहीं है ! दुनिया दबाती रहती है।' कई बार ऐसा सुनने को मिलता है। दबाकर क्या करेगी ? तुम्हारा कपड़ा ले लेगी, तुम्हारा पैसा ले लेगी और बहुत होगा तो तुम्हें दो-चार थप्पड़ मार देगी। *तुम्हारा* क्या लेगी ? इस सबसे *तुम्हारा* क्या नुकसान हुआ ? और अगर ये विकार तुम्हारे अंदर आ गये तो तुम जन्म-मरण के चक्कर में पड़ गये। जब तक योगमूलकता नहीं होगी तब तक सरलता आ नहीं सकती, बल्कि मन में आने लगता है कि सरलता न होवे तो अच्छा है !

मार्दव—मृदु व्यवहार। हमेशा मृदुत्व—कोमल व्यवहार होना चाहिये। जैसे हम नहीं चाहते हैं कि हमारे साथ कोई आदमी कठोर व्यवहार करे वैसे ही हम किसी के प्रति कठोर व्यवहार न करें। मार्दव—यह अपने व्यवहार में लाने का गुण है।

शम—अंतःकरण को यथासंभव उपशान्त करे, बाहर दौड़ने से रोके।

ये सब प्रसिद्ध हैं।

दम—इन्द्रियों को भी बाहर दौड़ने से यथासंभव रोके। यह नहीं कि बैठकर चार-चार घंटे टेलीविजन ही देखता रहे ! 'यह धार्मिक खेल आ रहा है जी, इसको देखने में क्या हर्जा है ?' देखना है तो पाँच मिनट देख लो फिर बंद कर दो। उतना भी न देखो तो अच्छा है। बाह्यकरण का भी उपशम करे।

यहाँ तक सारे सामान्य योग बतलाये। अब एक ऐसा योग बतलाते हैं जो सबके काम का नहीं है। **'सर्वभूतैरविरोधः'** सभी प्राणियों के प्रति यह भाव और व्यवहार रखना कि कभी भी किसी भूत को पीडा न होवे। 'सर्वभूतापीडालक्षणो योगः' यह पीडा न देने वाला योग है 'कभी किसी को मेरे से पीडा होवे ही नहीं।' यह सब के बूते का नहीं है ! भाष्यकार आचार्य शंकर अत्यन्त व्यावहारिक व्यक्ति थे, कहते हैं—'सर्वभूताविरोध-लक्षणाहिंसा परिव्राजकस्यैव संभवति'—किसी भी प्राणी को पीडा न होवे यह केवल संन्यासी ही कर सकता है, यह केवल उसके लिये संभव है। कारण क्या है ? संन्यासी अकेला है। उसकी जो कुछ भी जिम्मेवारी है वह अपनी है इसलिये वह सब प्राणियों को अभयदान दे सकता है। परन्तु जो संन्यासी नहीं है गृहस्थ है उसका संबंध अपने घर के अन्य चार व्यक्तियों के साथ भी है। समाज का अंग है तो उनके साथ भी सम्बन्ध है। प्रायः स्थल ऐसे होते हैं कि अगर तुम सामने वाले की पीडा को हटाओ तो घर वालों को पीडा हो जायेगी ! और घरवालों की पीडा को देखो तो उसकी पीडा को नहीं हटा सकते। जैसा अभी बतलाया था; ऐसे भक्त और उसकी पत्नी दोनों होवें, बच्चे कोई होवें नहीं; पति-पत्नी दोनों ही इसमें प्रसन्न हैं कि आये हुये अतिथि की सेवा होवे—यह प्रायः होता नहीं, अपवाद ही हो सकता है। प्रायः तुम्हारा मन होता भी है कि 'इस चीज से मैं इसको लाभ दूँ' तो घरवाले कहते हैं कि 'पहले घर को तो देखो'। गृहस्थ से सारे प्राणियों को अपीडा देना नहीं बनता इसलिये उसको तोलना पड़ता है—कभी घरवालों को थोड़ी सी पीडा दे दी—'इतने से काम चला लो दूसरे की भी मदद करनी है।' कभी दूसरे की पीडा को देखा भी, पर घरवालों को जरूरत है तो उसको वैसा ही छोड़ दिया। सारे प्राणियों को अपीडा देना—यह संन्यासी तो कर सकता है क्योंकि अकेला है। उसको तो और कोई

जिम्मेवारी है नहीं। इसलिये भगवान् भाष्यकार स्पष्ट करते हैं कि वह तो संन्यासी से ही संभव है। इस बात को बतलाने के लिये यहाँ मध्य में योग शब्द दे दिया—**'सर्वभूतैरविरोधो योगः'** अर्थात् यह कोई कर ले तो बाकी अपने आप सिद्ध हो जायेंगे। किसी भी प्राणी को किसी भी परिस्थिति में पीडा न देने का काम करोगे तो बाकी दोषों को हटाना सोचने की जरूरत ही नहीं पड़ेगी, अपने आप वे दोष निवृत्त हो जायेंगे। इसलिये इसको कह दिया कि यह प्रधान योग है।

यह संन्यासी के लिये हो गया तो बाकियों के लिये ? तब कहते हैं—ये तीन बाकियों के लिये आधार हैं; इन तीन को बाकी सब करेंगे तो जितने कहे हैं वे सब भी आ जायेंगे।पहला **'आर्यम्'** 'आर्याणां भावः'—आर्यों का भाव है किसी भी चीज में क्षुद्रता का न होना। कोई भी व्यवहार ऐसा नहीं होना चाहिये जो क्षुद्र पुरुष, नीच बुद्धि वाले किया करें। आर्य शब्द 'ऋ गतौ' धातु से निष्पन्न होता है—जिसके पास लोग जाते हैं उसको आर्य कहते हैं। आजकल कई बार लोग कहते हैं कि महाराज आर्य बाहर से आये। आर्य *आने वाले* नहीं हुआ करते, आर्य तो वे होते हैं जिनके पास *लोग* जाते हैं। लोग किसके पास जाते हैं ? जो क्षुद्र नहीं होवे। अगर पता है कि यह क्षुद्र आदमी है तो उसके पास कोई क्यों जायेगा ? आर्यता के ऊपर महर्षि वसिष्ठ ने योगवासिष्ठ में भी बहुत जोर दिया है। यहाँ भी सबसे पहले कहा 'आर्यम्'—क्षुद्रभाव का हमेशा त्याग, तुच्छ बुद्धि नहीं रखनी चाहिये।

'आनृशंसम्'—नृशंसभाव, क्रूरभाव कभी नहीं आना चाहिये। किसी भी परिस्थिति के अन्दर क्रूरता नहीं होनी चाहिये। दूसरे को दुःखी देखकर जो अच्छा लगना है उसको क्रूरता कहते हैं। 'इसने गलत काम किया, इसलिये अब दुःख पा रहा है तो ठीक हो रहा है—यह क्रूरता है। अपनी तरफ से मारो पीटो—वह तो है ही, नहीं भी मारो पीटो पर दूसरे के दुःख को देखकर मन में जो प्रसन्नता होना है वह भी क्रूरता है। कभी भी किसी के प्रति क्रूरता का भाव न होना। इस प्रकार क्षुद्रभाव न होना और क्रूर न होना। सारे कार्य तुम्हारे ऐसे होने चाहिये कि लोग यह समझें कि ये श्रेष्ठ पुरुष हैं, इनके पास जायेंगे तो हमें ठीक आदर्श मिलेगा, ठीक बात बतायेंगे, ठीक राय देंगे। और क्रूरता का भाव न होना।

तीसरा योग है **'तुष्टिः'** तुष्टि का मतलब है जो मुझे प्राप्त होना चाहिये **वह न** होने पर भी चित्त मैं वैसी ही प्रसन्नता बनी रहना जैसी मिलने पर बनती। अगर हमें वह चीज मिलती तब हमें जो प्रसन्नता होती उतनी ही प्रसन्नता उस चीज के न मिलने पर हमें होवे। हमने अपने बेटे को कोई बात कही। उसने मान ली तो प्रसन्नता होती है। उसने नहीं मानी तब भी तुम्हें उतनी ही प्रसन्नता होवे तब है तुष्टि। वह भी आत्मा है, उसका भी अंतःकरण है। उसने नहीं मानी तो अपने अंतःकरण के अनुसार नहीं मानी। तुमने कही तो अपने अंतःकरण के अनुसार कही। मानी तो उसने अपने अंतःकरण के अनुसार मानी। यह हर परिस्थिति के अन्दर अनुसन्धान करते रहने से ही संभव है—तुमसे हमें रुपया मिलना है; वह रुपया हमें मिल गया तो जितनी प्रसन्नता हुई, वह तुमने हमें नहीं दिया तब भी उतनी ही प्रसन्नता होना—यह तुष्टि है ! तुम देते तो हमारे पास आता। नहीं दिया तो तुम्हारे पास रहा। तुम-हम जब एक हैं तो क्या फर्क पड़ा ?

यह है योगमूल निर्घात। अन्यथा तुष्टि का अर्थ करते हैं 'जितना मिल गया उससे संतोष करना।' इसलिये आचार्य कहते हैं केवल इतनी मात्र तुष्टि नहीं 'लब्धव्यस्यालाभेऽपि चेतसः प्रसन्नतयाऽवस्थानं लाभ इव' नहीं मिलने पर भी जितनी प्रसन्नता मिलने पर होती उतनी ही प्रसन्नता का होना।

ये तीन योग—आर्य, आनृशंस और तुष्टि—ये **'सर्वाश्रमाणां'**—सब आश्रमों वालों के लिये हैं। 'सर्वभूतैरविरोधः' तो सबसे नहीं होगा लेकिन ये सबसे हो सकते हैं, सब लोग इन्हें कर सकते हैं।अतः **'सर्वाश्रमाणां समयपदानि'** ये सभी आश्रमियों के लिये—चाहे वह गृहस्थ हों चाहे जो हों सब के लिये नियम हैं।

'तान्यनुतिष्ठन् विधिना' जो नियमपूर्वक इनका अनुष्ठान करता है वह **'सार्वगामी भवति'** सर्वगत सर्वव्यापक जो आत्मस्वरूप है उसको प्राप्त कर लेता है। इनसे धीरे-धीरे जो अपनी सर्वव्यापकता है वह अभिव्यक्त होती चली जाती है। ज्ञाननिष्ठा के अन्दर हमेशा ही अपने को सर्वव्यापक देखना है। धीरे-धीरे क्रम से जितने-जितने ये दोष हटकर गुण आते जायेंगे उतना-उतना अपनी सर्वव्यापकता का जो तुम्हें ज्ञान हुआ है, जो तुमने

समझा है वह व्यवहारकाल में भी तुम्हारे लिये स्फुट होता रहेगा।

इस प्रकार संक्षेप में महर्षि आपस्तम्ब ने साधना बतायी। यह प्रसंग धर्मसूत्रों के करीब-करीब अंत में आया है। यह 'अध्यात्मपटल' है। इसमें बतलाया आध्यात्मिक योगों का अनुष्ठान। ये किये कैसे जायें ? युक्तिपूर्वक, विचारपूर्वक ही ये किये जा सकते हैं, बिना विचार के नहीं। इनको करने के अन्दर हमेशा चित्तवृत्ति को अनैश्चारिक बनाना है—यह तो प्रतिज्ञावाक्य में कह दिया था। करने का लाभ क्या ? तो बताया कि इस आत्मप्राप्ति से श्रेष्ठ और कोई भी प्राप्ति नहीं है। उस आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाले कुछ श्लोक बतलाये। योगों का अनुष्ठान कहाँ किया जाये ? हृदय के अन्दर गुहाशय में उनका अनुष्ठान किया जाये। परमात्मा सर्वतो देदीप्यमान ज्ञानस्वरूप तेज है, इस रूप से उसको समझना है। जो अपने हृदय में समझा जाये वही 'सर्वभूतेषु' सब प्राणियों के अन्दर स्थित समझना है। उसको देखते हुये जो चलता है वह जो यह अत्यन्त कष्ट से दीखने वाला आत्मा है इसे प्राप्त करके हमेशा आनंद में रहता है। उसको प्राप्त करने के लिये किस प्रकार का अभ्यास करे, यह बताया। किन दोषों के कारण वह अभ्यास पकता नहीं है उन प्रतिबंधकों को बताया और उन प्रतिबन्धकों को हटाकर किन योगों को विधिपूर्वक अनुष्ठान करने से वह ज्ञान उज्ज्वल हो जाता है यह भी बताया। इस प्रकार आपस्तम्ब महर्षि का यह ग्रंथ कम शब्दों में सारी बातें बता देता है, साधना का क्रम स्पष्ट कर देता है।

●

परिशिष्ट-१

ॐ

गीता जयन्ती

(संवत् २०५४)

द्वितीय विश्व महायुद्ध समाप्त हुआ। उसके कुछ समय बाद यूरोप से यहाँ कुछ लोग प्रतिनिधिमंडल, delegation बना कर आये थे। वे लोग युद्ध की विभीषिका को सहन कर चुके थे, भयंकर परिस्थिति को देख चुके थे। अतः उनके मनमें युद्ध के प्रति एक सहज वितृष्णा पूर्ण रूप से वर्तमान थी। भारतवर्ष में गांधीजी ने अहिंसा के द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त की, इससे भारत के प्रति उनके मन में विशेष आकर्षण था। उनमें से कुछ लोगों ने भारतीय संस्कृति के ग्रंथों का अध्ययन भी किया था। गीता का भी किया था। उन लोगों से जब बातचीत करने का मौका हुआ, तो एक व्यक्ति ने प्रश्न किया, 'आप लोग गीता को इतना महत्त्व देते हैं और गीता का अध्ययन करके उसकी विलक्षणता को हम लोग समझते भी हैं, उसके ज्ञान से अभिभूत भी होते हैं, परन्तु हम लोगों की समझ में यह नहीं आता कि करुणावरुणालय होते हुए भगवान् कृष्ण ने युद्ध की विभीषिका से बचने वाले अर्जुन को बार-बार युद्ध में प्रेरित क्यों किया? ईसा मसीह से जब कहीं पूछा गया तो उन्होंने कहा कि, 'एक गाल पर कोई थप्पड़ मारे तो दूसरा गाल आगे कर दो। कोई तुम्हारा कोट माँगे तो कुर्ता भी उतारकर दे दो।' इसी प्रकार बुद्ध ने सब प्रकार से हिंसा को बुरा बतलाया। महावीर पर कितना भी आघात किया वे फिर भी अहिंसा में स्थित रहे। इन लोगों की आध्यात्मिकता तो हमको स्पष्ट प्रतीत होती है, परन्तु सनातन धर्मी जिसको श्रेष्ठ मानते हैं—'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'—वह युद्ध को बचाने की बजाय अर्जुन को युद्ध की तरफ धक्का दे रहे हैं, सारे देश का नाश करवा रहे हैं ! यह जो उनका कार्य है इससे हमको गीता के प्रति श्रद्धा होने पर भी हृदय संदेह से व्याकुल होता है। आप इस विषय में क्या कहते हैं ?'

उनको बताया कि जब उपदेश दिया जाता है तब सामने लेने वाला कौन है उसको याद रखा जाता है। ईसा मसीह ने उपदेश उन्हें दिया, जिन लोगों के सामने कोई विकट परिस्थिति थी ही नहीं। जिज्ञासु लोग थे, किसी विकट परिस्थिति में नहीं फँसे हुए थे। इसी प्रकार बुद्ध और महावीर का उपदेश भी जिज्ञासुओं को दिया गया, जो संसार के पदार्थों की तरफ प्रवृत्ति न करते हुए केवल अध्यात्म के जिज्ञासु थे। आप लोग यह प्रश्न कर रहे हैं। क्या आप लोग इसी प्रकार से विश्व को विस्मृति के गर्भ में डालकर, सर्वथा निवृत्त हो कर एकांत जंगल में बैठकर ध्यान कर सकते हैं ? अथवा आप लोग इतने दूर देश से यहाँ पर केवल यह जानने के लिये आए हैं कि किस प्रकार संसार से युद्ध की विभीषिका को दूर करने का प्रयत्न किया जाये ? युद्ध की भयंकरता से बचने का प्रयत्न किया जाये ? इसके लिये आये हैं; अथवा 'दुनिया में जो होना होगा सो होगा हम तो हिमालय की कंदरा में जाकर एकांतवास करेंगे' इसके लिये आये हैं ? जितने थे सबको कहना ही था कि, 'नहीं, हम तो संसार के अंदर इस प्रकार का युद्ध कभी न हो, इस विचारधारा के हैं और इसी विचारधारा से आये हैं।'

हमने कहा कि, 'इसलिये जिनका आपने नाम लिया—ईसा, बुद्ध, महावीर—उन्होंने जिनको जो भी उपदेश दिया, वह आपके लिये तो बेकार है ! उन उपदेशों को तो बाँचना ही बेकार है। युद्ध की भयंकरता कैसे बचायी जाये इस विचार के आप हैं। अर्थात् यह संसार सचमुच में है, इस प्रकार की परिस्थितियाँ पैदा होती हैं जिनमें युद्ध न करो तो कठिनाई, करो तो कठिनाई। इससे कैसे बचा जाये, यह आपकी समस्या है।

जब दो धर्म एक जैसे मनुष्य के सामने उपस्थित होते हैं तब प्रश्न उठता है। अर्जुन की समस्या क्या थी ? जब तक हमारे अंदर इस संसार के प्रति यह भावना है कि यह संसार सच्चा है और इसके प्रति कुछ करना है, तब तक हम अहंभाव से ग्रस्त हैं, अज्ञान से ग्रस्त हैं। 'मैं कर सकता हूँ और मुझे करना चाहिये', यह कर्तृत्व-भावना बिना अज्ञान के संभव नहीं। जब तक कर्तृत्व-भावना रहेगी, जब तक यह संभव है कि तुम कुछ कर सको, तब तक जब कभी भी विरोधी धर्मों का प्रश्न आये तब किस चीज को प्रधानता दी जाये—यह भगवान् कह रहे हैं। दोनों बातों का ख्याल रखना : 'मैं करता हूँ, संसार सचमुच में है', ऐसे निश्चय वाला अगर यह

कहता है कि 'मैं कुछ नहीं करूँगा' तब भी वह मैं से युक्त होकर कर्ता-भाव वाला ही है। इसलिये भगवान् कहते हैं—

'कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः स बुद्धिमान् मनुष्येषु'

शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त सब कर्म के आश्रय ही हैं। इनमें तो कर्म रहेगा ही, परन्तु इन सबको जानने वाला, इन सबका द्रष्टा, इन सबका साक्षी कर्मरहित है। जो स्वतंत्र होकर कभी क्रिया के आश्रय हो नहीं सकते, वे उसकी सत्ता को प्राप्त करके कर्मवाले बनते हैं, यह है—'अकर्मणि च कर्म यः'। अतः जब तक तुम यह सोचते हो कि 'मैं कर सकता हूँ', तब तक 'मैं नहीं करूँगा' यह कोशिश भी एक कर्म ही है।

अर्जुन का प्रश्न यह था कि युद्ध करूँ या युद्ध न करूँ। अतः कर्ता बना हुआ ही अर्जुन प्रश्न कर रहा है। इसलिये कर्ता बने हुये को जो कहना है, वह भी भगवान् को समझाना है। परन्तु अर्जुन ने केवल इतना नहीं पूछा। 'यत् श्रेयःस्याद्' जिससे मेरा *कल्याण* होवे—यह भी पूछा। कर्तृत्व-भाव में अधिष्ठित हुआ प्रश्न पूछा रहा है और पूछा रहा है कल्याण का। इसलिये उसको कल्याण का उपदेश देना भी जरूरी है। अतः गीता के अन्दर ज्ञान के साधन क्या हैं, साक्षात् साधन कौन हैं और ज्ञान का स्वरूप क्या है, वह ज्ञान ब्रह्मरूप है, इन सब चीजों का प्रतिपादन करना आवश्यक था। सर्वज्ञ भगवान् शंकर लिखते हैं 'समस्त-वेदार्थ-सारसंग्रह-भूतमिदं गीता शास्त्रम्' सारे वेद के अर्थ को यहाँ प्रतिपादित किया गया है। वेद का कर्मकाण्ड, वेद का ज्ञानकाण्ड दोनों ही इसमें आ गये। परन्तु कौन सा कर्मकाण्ड ? जो ज्ञानकाण्ड का सहायक हो।

ज्ञानकाण्ड का सहायक कर्म होता है, जब हम कर्म के अन्दर से फलतृष्णा का काँटा निकाल देते हैं। स्वाभाविक प्रश्न होता है 'प्रयोजनम् अनुद्दिश्य न मंदोपि प्रवर्तते' किसी भी काम को करोगे तो किसी न किसी उद्देश्य से करोगे 'अकामस्य क्रिया काचित् न' मनु कहते हैं कि बिना कामना के कोई क्रिया कर सके, यह असंभव है। अगर यहाँ से उठकर चलते हैं तो कहीं जाना हमारे सामने होगा तभी न उठकर चलेंगे। सर्वथा बिना प्रयोजन के उठकर इधर-उधर टक्कर मारेंगे तो लोग कहेंगे कि इनको रांची ले चलो ! कुछ गड़बड़ हो गया, दिमाग खराब हो गया। जब कहते हैं कि कर्म का फल चाहो नहीं, अर्थात् प्रयोजन चाहो नहीं और बिना प्रयोजन

के करो; कहते ही बात विरुद्ध लगती है।

भगवान् ने इस समस्या का हल किया है। उन्होंने कहा कि प्रयोजन दो प्रकार का है—एक अपना प्रयोजन और एक दूसरे का प्रयोजन। हम जब तुमसे कहते हैं 'प्यास लगी है, एक ग्लास पानी ले आओ', तब तुम उठकर जो पानी लाते हो उस पानी लाने में तुम्हारा कोई प्रयोजन नहीं है। हमारी आज्ञा का पालन करना और हमारी आज्ञा के पालन करने से हमारे संतोष की प्राप्ति होना, बस यह तुम्हारा उद्देश्य है। इसलिये भगवान् ने कहा 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' तुम अपने कर्मों को अपने प्रयोजनों से मत करो, मेरे प्रयोजन से करो। विलक्षण बात है। कोई भी यंत्र हो उस यंत्र में अनेक पुर्जे होते हैं, तरह तरह के पुर्जे होते हैं। एक दूसरे के विरोधी पुर्जे भी होते हैं। मोटर ख़रीदते हो तो लेते समय परीक्षा करते हो। दो चीजों की परीक्षा करते हो—यह मोटर चलाने के लिये इसका जो उत्तेजक है accelerator है, वह काम ठीक कर रहा है कि नहीं। उसको दबाओगे तो गाड़ी तेज जायेगी। गाड़ी *चलानी* है इसलिये उसको देख लिया तो काम हो गया ? साथ में ब्रेक, अवरोधक काम करता है कि नहीं, यह भी देखते हो। कोई कहे कि 'गाड़ी चलानी है तो उत्तेजक को देखो और रोकनी है तो अवरोधक को देखो। दोनों को क्यों देखते हो?' तो नासमझ माना जायेगा। दोनों को देखना जरूरी हो जाता है। दोनों विरुद्ध प्रकृति के हैं। इसलिये गाड़ी में ब्रेक भी बढ़िया बनाकर लगाया जाता है और उत्तेजक, accelerator भी बढ़िया बनाकर लगाया जाता है। बाकी भी अनेक विरोधी पुर्जे हैं वहाँ। जब यंत्र का निर्माण किया जाता है तब कई प्रकार के विरोध उसके अंदर होते हैं। वे सब आवश्यक हैं और सब अंग मिलकर काम करते हैं तब यंत्र ठीक चलता है।

इसी प्रकार परमेश्वर ने यह सृष्टिचक्र प्रवृत्त किया। यह सृष्टि हमने तो बनाई नहीं, तुमने भी नहीं बनाई। हम लोग वोट देकर भी उस सृष्टि बनाने वाले को बदल नहीं सकते ! कितना भी बहुमत तुम कर लो, कुछ नहीं होने वाला। कई वार लोग कहते हैं, 'महाराज ! युग के साथ धर्म में भी थोड़ा परिवर्तन तो होना चाहिये।' हम कहते हैं कि जरूर होना चाहिये, लेकिन उस बूढ़े शंकर को समझावे कौन ? नियम वह बनाने वाला है, जो बनायेगा वही चलेगा। वह बुड्ढा है, तुम्हारा उपदेश सुनेगा नहीं। सुन

लेवे तो बदल दो। हमारे को तो कोई फर्क नहीं, कोई भी धर्म होवे। लेकिन हमको तुम लोगों में से कोई नहीं दीखता है जो वोट देकर और कुछ कर लेवे।

जैसे उस यंत्र के नियमों को समझकर जो उस यंत्र का पुर्जा है उससे ठीक से काम लेते हो, वैसे ही यहाँ सृष्टि चक्र में हम सब पुर्जे हैं। सृष्टि का प्रवर्तन करने वाले परमेश्वर ने हममें से हरेक के प्रति कुछ न कुछ कार्य दे रखा है, वह सब हमारा स्व कर्म है। हम उस पुर्जे का काम ठीक से करते नहीं हैं। कहोगे 'महाराज ! जानते नहीं हैं, कैसे करें ?' अर्जुन बड़ा पढ़ा-लिखा था, धर्म के रहस्यों को जानता था, वेद का अध्ययन किया हुआ था, स्वाध्यायी था, रोज ब्रह्मयज्ञ करता था। कोई ऐरा-गैरा व्यक्ति नहीं था अर्जुन। इसलिये अर्जुन कहता है कि 'महाराज ! जानता तो हूँ 'अनिच्छन् अपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः' परन्तु अनुभव यह होता है कि जिस चीज को मैं नहीं करना चाहता—जानता हूँ यह नहीं करना चाहिये—फिर भी करता हूँ जैसे मानो कोई जबरदस्ती इसमें मुझे लगा देता है।' बलपूर्वक कोई लगा देता है, ऐसा लगता है। और यह हममें से हरेक का अनुभव कई बार जीवन में होता है। यही प्रश्न केन उपनिषद् के प्रारम्भ में किसी ऋषि के शिष्य ने किया 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः' वह कौन है जो चाबुक लगाकर हमारे मन को जिधर चाहता है उधर खींचता है ? भगवान् ने जवाब दिया, 'ये जो तुम्हारे अन्दर बैठे हुये काम हैं, क्रोध हैं, बस ये ही तुमको प्रवृत्त करते हैं।' काम-क्रोध क्यों करता है ? क्योंकि 'यह मेरा प्रयोजन है' ऐसा कोई आग्रह पाल लेता है। तुम करने जाते हो तो सामने है 'मेरा प्रयोजन है इसलिये मैं कर रहा हूँ'। जब तक तुम्हारा प्रयोजन रहेगा तब तक काम-क्रोध रहेंगे और तब तक वे काम-क्रोध तुमको 'बलादिव नियोजितः' जबरदस्ती किसी तरफ लगा देंगे। प्रश्न वहीं का वहीं रह गया : पूछा था कि इच्छा से हमें प्रवृत्त कौन करता है ? और जवाब मिला कि यह इच्छा ही हमें प्रवृत्त करती है ! काम कहाँ से पैदा होता है 'संगात् संजायते कामः' जिन चीजों के साथ रहते हैं उनसे कामना हो जाती है, कामना से प्रवृत्ति होती है, प्रवृत्ति से फिर इधर-उधर के संग हो जाते हैं।

तो फिर इस चक्र से निकलें कैसे ? मनुष्य की प्रवृत्ति के प्रयोजन को

जब हटाया जाये तभी वह इससे निकलेगा। मैं इस संसार यंत्र का पुर्जा हूँ। पुर्जे को इधर-उधर नहीं देखना है। पुर्जा जिस काम के लिये बना है उसे वह काम करना है। यंत्र के प्रयोजन से स्वतंत्र अपना प्रयोजन कुछ नहीं रखना है। कोई छोटा पुर्जा है, कोई बड़ा पुर्जा है। उत्तेजक गाड़ी को तेज चलाता है, लोग तारीफ करते हैं—यह गाड़ी झट से तेजी से चलती है। अंग्रेजी वाले कहते हैं—pick-up बड़ा बढ़िया है। पर क्या बेचारे ब्रेक को कोई कहता है ? अथवा गाड़ी के अन्य यंत्र हैं, उनकी विशेषता नहीं कहते, pick-up की तारीफ करते हैं कि जल्दी तेज़ हो जाती है। अगर ब्रेक सोचे कि pick-up की तारीफ करते हैं तो मैं क्यों रोकूँ ? तो गाड़ी कितनी चलेगी ? इसलिये जो तुमको कार्य मिला है वह करो। हो सकता है किसी का कर्म ऐसा है कि वह दुनिया भर में प्रशंसा को प्राप्त करता है और किसी का कर्म ऐसा है कि दुनिया भर उसकी निंदा करे। बढ़िया ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय ब्राह्मण को देखकर दण्डवत् प्रणाम करोगे। झाड़ू देकर मैला उठाकर ले जाने वाले मेहतर को देखकर नाक भौं सिकोड़कर उससे दूर होगे। जब अपना प्रयोजन सामने आयेगा तब वह कहेगा 'मैं क्यों झाड़ूँ?' कुछ लोग उनके समर्थक भी मिल गये कि 'हाँ भई तुम क्यों झाड़ो।' अब जिधर जाओ मक्खियाँ ज्यादा हैं। तुमने झाड़ू लगाने वालों को झाड़ू लगाने से मना कर दिया, सफाई करने वाला सफाई करेगा नहीं तो मक्खियाँ होनी ही हैं। जब सब श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ होकर बैठ जायेंगे तो मक्खियाँ ही होनी हैं। यदि सच्चे ब्रह्मनिष्ठ होते तो मक्खियों के काटने से कोई फर्क पड़ना नहीं चाहिये। ऐसा तो है नहीं, क्योंकि कर्तृत्वभाव में बैठे हुए हो—इसीलिये रोते हो 'क्या करें कि मक्खियाँ न होवें !' इसलिये भगवान् ने कहा—'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य।' जो काम तुमको मिला हुआ है उसे तुम करो। 'इससे मुझे अच्छा फल मिलेगा, बुरा फल मिलेगा; मेरा यश होगा, नहीं होगा; मुझे धन ऐश्वर्य की प्राप्ति होगी, नहीं होगी' ये भाव कुछ नहीं रखो। मैं तो पुर्जा हूँ और मुझे अपना काम अच्छी तरह से करना है क्योंकि इससे केवल जिसने मुझे यह काम दिया है उसे प्रसन्न करना है। —जब यह भाव लेते हो तब तुम्हारी कामना छूट जायेगी।

बलात् तुम्हें कौन लगाता है ? काम, क्रोधादि लगाते हैं। काम क्यों होता है ? क्योंकि प्रयोजन तुम अपना चाहते हो। अपना प्रयोजन छोड़कर

सृष्टि चक्र को चलाने वाला जो परमेश्वर है उसने जिस पुर्जे को बनाया है, वह पुर्जा अपना काम करेगा यह भाव रखो, बस उसके फल में कोई दृष्टि नहीं। जब यह कामना निवृत्त हो जाती है तब बल से तुम प्रवृत्त नहीं होते, परमेश्वर ही तुम्हारा नियामक हो जाता है। नतीजा इसका यह होगा कि धीरे-धीरे तुम्हारी शुद्धि हो जायेगी कि 'मैं कर्ता नहीं हूँ, कोई दूसरा जो करवा रहा है, उसके अनुसार कर रहा हूँ'। आगे तो वहाँ भी पहुँचना है कि—न कहीं कुछ करना है, न कराना है। लेकिन पहला कदम यही होगा 'मैं करने वाला नहीं हूँ, मैं तो केवल उसकी आज्ञा के अनुसार चलने वाला हूँ'। इससे तुम्हारा कर्तृत्वभाव शिथिल होगा। इसलिये भगवान् ने अर्जुन से कहा

'स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्।।'

जब तक तुम स्वभाव में स्थित हो, जब तक तुम कर्ता-भोक्ता-भाव में स्थित हो, जब तक तुम अज्ञान में स्थित हो, तब तक तुम लाख कोशिश कर लो लेकिन बिना इच्छा के भी तुम करोगे। 'निबद्धःस्वेन कर्मणा' बंधा हुआ है तो कुछ अन्य नहीं कर सकता।

जब तुम उस कर्तृत्वभाव से हटोगे, तब अगला प्रश्न होगा। अब तक स्थिति है : मैं कौन हूँ ? करने वाला, भोगने वाला ? अब अगला प्रश्न होगा कि 'अगर मैं कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ, तो मैं कौन हूँ ?' तब 'श्रेयस्' की बात बतलायी जायेगी। तब भगवान् कहेंगे तुम्हार वास्तविक स्वरूप इन सबसे रहित है।

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।'

शरीर के धर्म, प्राण के धर्म, मन के धर्म—इन सबको छोड़ दो। 'इन सबसे मेरा कोई संबंध नहीं। अहम् चाहे जैसा तड़पता रहे, मुझे क्या मतलब है!' इन सब को छोड़कर 'माम् एकम्' एक अकेला जो ब्रह्मतत्त्व ज्ञानस्वरूप है, बस वही है यह निश्चय रखो। यह है शरण जाना। यहाँ शरण का मतलब ऐसा नहीं कि कोई दूसरा है जिसका हम पैर पकड़ेंगे तो शरण हो जायेगी! वह शरण तो हमेशा किसी उद्देश्य से होगी। यहाँ वास्तविक शरण है कि

मैं अब कुछ नहीं रह गया। 'ब्रह्ममात्रम् असन्न हि' देहादि सारे धर्म असत् हैं। वे सर्वथा मुझ से असंबद्ध हैं इसलिये केवल ब्रह्ममात्र ही है—बस यही है शरण जाना। इस बात का जो ज्ञान, इस बात की जो निष्ठा है—वही तुझे सारे पापों से छुड़ा देगी। मैं स्वयं ब्रह्मभाव में स्थित होकर यह उपदेश दे रहा हूँ, इसलिये तू निश्चित जान ले

'इदं ज्ञानम् उपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।।'

इस ज्ञान को प्राप्त करके जो मुझ परमेश्वर के समान हो जाते हैं वे न सृष्टि में पैदा होते हैं न प्रलय में दुःखी होते हैं। आगे जाकर अर्जुन ने भगवान् से एक बार फिर पूछ लिया (महाभारत में आता है), 'महाराज उस समय का उपदेश मैं कुछ भूल गया। मुझे फिर से उपदेश दे दीजिये।' भगवान् ने उसको बहुत डाँटा और कहा, 'उस समय मैं कृष्णभाव में स्थित होकर उपदेश नहीं दे रहा था। उस समय मैं सर्वथा ब्रह्मभाव में स्थित होकर उपदेश दे रहा था। वह मैं अब तुमको फिर नहीं दे सकता हूँ।'

गीता शास्त्र के अन्दर जिस भूमि से वह उपदेश दे रहे हैं वह मन और बुद्धि के विषयों से अतीत है। कामना कहाँ तक रहती है ? तो भगवान् ने कह दिया—बुद्धि में रहती है, इन्द्रियों में रहती है, मन में रहती है। यही सब कामना के निवासस्थल हैं। दुश्मन अपने दुर्ग में बैठा हुआ है। हमारे कश्मीर के अन्दर सियाचिन ग्लेशियर में यही परिस्थिति है, ऊपर पाकिस्तानी बैठे हुए हैं। यदि दुश्मन ऊपर बैठा हुआ है और तुम उसके दुर्ग पर चढ़ाई कर उसे तोड़ना चाहते हो तो कैसे तोड़ोगे ? यदि तुम चाहते हो उसको फतह करना तो उससे ऊँचे दुर्ग को बनाओ और तब आक्रमण करो। ठीक इसी प्रकार इन्द्रियाँ और मन-बुद्धि इन सबसे परे 'बुद्धेः परतस्तु सः' वह परमात्मा है। उसकी तुम शरण लो। 'शरणं गृह-रक्षित्रोः' घर को कहते हैं शरण। जब तुम्हारा निवासस्थान तुम्हारा शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि नहीं रह जायेंगी, तुम सर्वथा स्थित होगे जो बुद्धि से परे तत्त्व है उस परमात्मभूमि में, तब तुम मन बुद्धि इन्द्रिय इत्यादि के अन्दर रहने वाली कामना से ग्रस्त नहीं होगे। परन्तु जब तक तुमने इस ज्ञान को प्राप्त नहीं किया, प्राप्त करके मेरे से साधर्म्य—मेरे से समान धर्म—वाले नहीं हो गये, मेरे से एक धर्म वाले नहीं हो गये, जैसा मैं सच्चिदानंद रूप हूँ वैसे ही

सच्चिदानंद भाव में तुम स्थित नहीं हो गये, तब तक तो तुमको सृष्टि चक्र में भी चलना पड़ेगा, प्रलय के दुःख भी सहने पड़ेंगे। परन्तु जब तुम उस उत्तर भूमिका के अन्दर, श्रेष्ठ भूमिका के अन्दर स्थित हो जाओगे सच्चिदानंद रूप में, तब जैसे मैं इस सारी सृष्टि के होने न होने में एक जैसा अधिष्ठान बना रहता हूँ वैसे ही तुम बने रहोगे।

इस प्रकार गीता में सारे वेदार्थ का सार संग्रह बताया। जिन लोगों ने प्रश्न किया उन लोगों से हमने कहा कि इस भूमि से यह चीज कही गयी है। ऐसी भूमि वाले को कैसे समझाया जाये यह बात न तुम्हारे ईसा मसीह में थी, न बुद्ध में थी, न महावीर में थी। दो समान धर्म हैं—एक है व्यक्ति का धर्म—एकांत में जाकर भजन करेगा, भगवान् की प्राप्ति करेगा। यह धर्म भी उसके सामने है। कोई यह नहीं कह सकता कि अर्जुन जो कह रहा है वह ठीक नहीं है। बढ़िया बात है। आज के जितने वैष्णव आचार्य हैं उनसे कोई यह बात कहेगा तो वे कहेंगे 'बड़े भाग्य से तुम्हारे मन में वैराग्य आया है। यह लो तुलसी की माला और जपो। यही सच है, और संसार तो झूठा ही है।' कर्तृत्वभाव निवृत्त हुआ नहीं है अतः फिर वहाँ जाकर दूसरा संसार खड़ा हो जायेगा ! इसलिये जब तक तुम कर्ताभाव में स्थित हो तब तक स्वधर्म करो। यद्यपि यह धर्म भी अच्छा है, परमात्मा का भजन करना बुरा नहीं है ! तथापि युद्ध और एकांत भजन—इन दोनों में तुम जिस काम के लिये बनाये गये हो वह काम करना तुम्हारे लिये श्रेष्ठ है। और जब तुम यह सोचोगे 'भगवान् ने मुझे क्षत्रिय बनाया, उत्तम राज्य की स्थिति करने वाला बनाया लेकिन भगवान् बुड्ढे हो गये हैं, हमें गलत जगह पैदा कर दिया, हम तो भजन ही करेंगे। यही हमारे लिये श्रेष्ठ हैं—तभी गलती शुरू हो जायेगी। दोनों धर्मों के अन्दर जो स्वधर्म है, तुम्हारा धर्म है उसके द्वारा ही आगे बढ़ सकते हो, अन्यथा नहीं। यह जो कहा गया है, यह प्रत्येक व्यक्ति के लिये भयंकर से भयंकर परिस्थिति में निर्देश है। इस विरोध को दिखलाने के लिये महाभारत युद्ध में ही भगवान् ने उसका उपदेश दिया क्योंकि स्वयं अर्जुन कहता है कि—

'तत् किम् कर्मणि घोरे माम् नियोजयसि केशव'।

घोर कर्म है। एक तरफ तो छोड़छाड़ कर भजन करने वाला कर्म जो सबको बहुत बढ़िया लगेगा और दूसरी तरफ ऐसा घोर कर्म कि अपने दादा और

अपने गुरु से लड़कर उनको मारना है। वह घोर कर्म दीख रहा है और यह सौम्य कर्म दीख रहा है। दोनों ही अच्छे कर्म हैं। सर्वथा अच्छे और बुरे कर्मों के अन्दर विवेक करना तो सरल है। लेकिन दोनों अच्छे कर्म दीख रहे हैं। यह प्रशंसनीय होता है वह अप्रशंसनीय लग रहा है। लेकिन अप्रशंसनीय भी यदि लगता है परन्तु मेरा स्वधर्म है तो करना है क्योंकि उसको करने से ही कर्तृत्वभाव की निवृत्ति होगी। अन्यथा हम एकांत में भी जायेंगे तो कर्तृत्वभाव निवृत्त होगा नहीं और कर्तृत्वभाव [illegible] के बिना कभी भी मोक्ष की प्राप्ति होगी नहीं। यह भगवान् ने [illegible] बतलाया।

परिशिष्ट-२

ॐ

अध्यात्मपटलम्

आपस्तम्बमहर्षिप्रणीतधर्मसूत्रे प्रथमप्रश्ने अष्टमं पटलम्

श्रीमच्छङ्करभगवत्पादविरचितेन

भाष्येण सहितम्

अध्यात्मिकान् योगाननुतिष्ठेत् न्यायसंहिताननैश्चारिकान्।।१।।

ॐ अथ 'अध्यात्मिकान् योगान्' इत्याद्यध्यात्मपटलस्य संक्षेपतो विवरणं प्रस्तूयते। किमिह प्रायश्चित्तप्रकरणे समाम्नानस्य प्रयोजनमिति ? उच्यते—कर्मक्षयहेतुत्वसामान्यात्। अनिष्टकर्मक्षयहेतूनि हि प्रायश्चित्तानि भवन्ति। सर्वं च कर्म वर्णाश्रमविहितमनिष्टमेव विवेकिनः, देहग्रहणहेतुत्वात्। तत्क्षयकारणं चात्मज्ञानं, प्रवृत्तिहेतुदोषनिवर्तकत्वात्। दोषाणां च निर्घाते आत्मज्ञानवतः पण्डितस्य धर्माधर्मक्षये क्षेमप्राप्तिरिह विवक्षितेतिः आत्मज्ञानार्थम् अध्यात्मपटलमारभ्यते, कर्मक्षयहेतुत्वसामान्यात्।।

ननु वर्णाश्रमविहितानां कर्मणामफलहेतुत्वात् तत्क्षयो नेष्ट इति ? न, 'सर्ववर्णानां स्वधर्मानुष्ठाने परमपरिमितं सुखम्' इत्यादिश्रवणात्। अपरिमितवचनात् क्षेमप्राप्तिरेवेति चेत् ? न, 'तत्परिवृत्तौ कर्मफलशेषेण' इत्यादिश्रवणात्। गौतमे च 'वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय' इत्यादिना संसारगमनमेव दर्शयति कर्मणां फलम्। सर्वाश्रमाणां हि दोषनिर्घातलक्षणानि समयपदानि विधिनाऽनुतिष्ठन् सार्वगामी भवति, न तु स्वधर्मानुष्ठानात्। वक्ष्यति च 'विधूय कविः' (सू. ५), 'सत्यानृते सुखदुःखे वेदानिमं लोकममुं च परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत्' (२/२१/१३) इत्यादि।

'तेषु सर्वेषु यथोपदेशमव्यग्रो वर्तमानः क्षेमं गच्छति' इति वचनात् क्षेमशब्दस्य चापवर्गार्थत्वात् सर्वाश्रमकर्मणां ज्ञानरहितानामेव फलार्थत्वम्। ज्ञानसंयुक्तानि तु क्षेमप्रापकाणि; यथा विषदध्यादीनि मन्त्रशर्करादिसंयुक्तानि

कार्यान्तरारम्भकाणि; तद्वदिति चेत् ? न, अनारभ्यत्वात् क्षेमप्राप्तेः। यदि हि क्षेमप्राप्तिः कार्या स्यात्, तत इदं चिन्त्यम्—किं केवलैः कर्मभिरारभ्या? ज्ञानसहितैर्वा ? ज्ञानकर्मभ्यां वा ? केवलने ज्ञानेन कर्मासंयुक्तेन वा? इति। न त्वारभ्या केनचिदपि क्षेमप्राप्तिः, नित्यत्वात्। अतोऽसदिदं—ज्ञानसंयुक्तानि कर्माणि क्षेमप्राप्तिमारभन्त—इति।।

ज्ञानसंयुक्तानां ज्ञानवदेव क्षेमप्राप्तिप्रतिबन्धापनयकर्तृत्वमिति चेत् ? न, सकार्यकारणानामेव कर्मणां क्षेमप्रतिबन्धकत्वात्। अविद्यादोषहेतूनि हि सर्वकर्माणि सह फलैः कार्यभूतैः क्षेमप्राप्तिप्रतिबन्धकानि। तदभावमात्रमेव हि क्षेमप्राप्तिः। न च तदभाव आत्मज्ञानादन्यतः कुतश्चिदुपलभ्यते। तथा ह्युक्तम् 'निर्हृत्य भूतदाहान् क्षेमं गच्छति पण्डितः' (सू. ११) इति। पाण्डित्यं चेहात्मज्ञानम्, प्रकृतत्वात्। श्रुतेश्च 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कुतश्चन' इति। अभयं हि क्षेमप्राप्तिः, 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' इति श्रुत्यन्तरात्।

'तेषु सर्वेषु यथोपदेशमव्यग्रो वर्तमानः क्षेमं गच्छति' इत्याचार्यवचनमन्यार्थम्। कथम् ? यथोपदिष्टेष्वाश्रमधर्मेष्वव्यग्रो निष्कामः सन् प्रवर्तमानो ज्ञानेऽधिकृतो भवति; न यथेष्टं चेष्टन् कामकामी जायापुत्रवित्तादिकामापहृतव्यग्रचेताः। ज्ञानी च सन् सर्वसंन्यासक्रमेण क्षेमं गच्छतीत्येषोऽर्थः। न हि दोषनिर्घातः कदाचिदपि कर्मभ्य उपपद्यते। समिथ्याज्ञानानां हि दोषाणां प्रवृत्तौ सत्यां प्राबल्यमिहोपलभ्यते। 'संकल्पमूलः कामः' इति च स्मृतेः। प्रवृत्तिमान्धे च दोषतनुत्वदर्शनात्। न चानिर्हृत्य समिथ्याज्ञानान् दोषान् क्षेमं प्राप्नोति कश्चित्। न च जन्मान्तरसंचितानां शुभकर्मणां विहितकर्मभ्यो निवृत्तिरुपपद्यते, शुद्धिसामान्ये विरोधाभावात्। सत्सु च तेषु तत्फलोपभोगाय शरीरग्रहणम्, ततो धर्माधर्मप्रवृत्तरागद्वेषौ, पुनः शरीरग्रहणं चेति संसारः केन वार्यते ! तस्मान्न कर्मभ्यः क्षेमप्राप्तिः, तत्प्रतिबन्धनिवृत्तिर्वा।

कर्मसहितात् ज्ञानादविद्यानिवृत्तिरिति चेत्; यद्यपि ज्ञानकर्मणोर्भिन्नकार्यत्वात् विरोधः, तथापि तैलवर्त्यग्नीनामिव संहत्य कर्मणा ज्ञानमविद्यादि संसारकारणं निवर्तयतीति चेत् ? न, क्रियाकारकफलानुपमर्देनात्मलाभाभावात्, ज्ञानस्य कर्मभिः संहतत्वानुपपत्तेः। तैलवर्त्यग्नीनां तु सहभावित्वोपपत्तेः इतरेतरोपकार्योपकारकत्वोपपत्तेश्च संहतत्वं स्यात्। न तु ज्ञानकर्मणोस्तदुभयानुपपत्तेः संहतत्वं कदाचिदपि संभवति। केवलज्ञानपक्षे शास्त्रप्रतिषे-

धवचनादयुक्तमिति चेत् ? न, ज्ञानकार्यानिवर्तकत्वात् शास्त्रप्रतिषेधवचनस्य। योऽयं कर्मविधिपरैः केवलज्ञानपक्षस्य सर्वसंन्यासस्य विप्रतिषेधो-विरोधः, स नैव ज्ञानकार्यमविद्यादोषक्षयं वारयति 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' 'तस्य तावदेव चिरम्' 'मृत्युमुखत्प्रमुच्यते' इत्येवमादिश्रुतिस्मृतिशतसिद्धम्, कर्मविधिपरत्वात् प्रवृत्तिशास्त्रस्य। न च तत् ज्ञानस्वरूपं ब्रह्मात्मैकत्वविषयं वारयति। सर्वोपनिषदामप्रामाण्यानर्थक्यप्रसङ्गात्, 'पूः प्राणिनः' (सू. ४) 'आत्मा वै देवता' इत्यादिस्मृतीनां च। तस्माद्यद्यपि बहुभिः प्रवृत्तिशास्त्रैर्विप्रतिषिद्धं केवलज्ञानशास्त्रमात्मैकत्वविषयमल्पम्, तथाऽपि सकार्यस्य ज्ञानस्य बलवत्तरत्वात् न केनचिद्वारयितुं शक्यम्।।

जीवतो दुःखानिवर्तकत्वात् ज्ञानस्यानैकान्तिकं क्षेमप्रापकत्वमिति चेत् ? न, 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' 'निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते' 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायेभ्यः। बहुभिर्विप्रतिषिद्धत्वात् सर्वत्यागशास्त्रस्य लोकवत् त्याज्यत्वमिति चेत् ? न, तुल्यप्रमाणत्वात्। मानसान्तानि सर्वाणि कर्माण्युक्त्वा 'तानि वा एतान्यवराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत्' (नारा. ७८) इति तपःशब्दवाच्यानां कर्मणामवरत्वेन संसारविषयत्वमुक्त्वा न्यासशब्दवाच्यस्य ज्ञानस्य केवलस्य 'न्यास एवात्यरेचयत्' 'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' (नारा. ३) इत्यमृतत्वं फलं दर्शयति शास्त्रम्। 'तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः' (नारा. ८०) इत्यादिना च विदुषः सर्वकर्माभावं दर्शयति। 'द्वौ पन्थानावनुनिष्क्रान्ततरौ कर्मपथश्चैवं पुरस्तात् संन्यासश्च तयोः संन्यास एवातिरेचयति' इति च। विप्रतिषेधवचनस्य निन्दापरत्वादयुक्तमिति चेत् ? न, अविद्वद्विषयस्य कर्मणः स्तुत्यर्थत्वोपपत्तेः। मन्दबुद्धयो हि लोकेऽदृष्टप्रयोजनाः प्ररोचनेन प्रवर्तयितव्याः कर्मसु, न दृष्टप्रयोजना विद्वांसः। परनिन्दा हि परस्तुतिरिति केवलज्ञाननिन्दया कर्मस्तुतिपरमाचार्यवचनम्।

यत्तु 'बुद्धे चेत् क्षेमप्रापणम् इहैव न दुःखमुपलभेत' (२/२१/१६) इति ज्ञानस्य साधनत्वानैकान्तिकवचनम्, तद् 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यादिवाक्येभ्यः प्रत्युक्तम्। आचार्यान्तरवचनाच्च 'त्यज धर्ममधर्मं च' 'न तत्र क्रमते बुद्धिः' 'नैष्कर्म्यमाचरेत्' 'तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति' इत्यादेः। तस्मात् केवलादेव ज्ञानात् क्षेमप्राप्तिः।

अथाध्यात्मिकान् योगानिति। अध्यात्मं भवन्तीत्यध्यात्मिकाः। छान्दसं ह्रस्वत्वम्। के ते अध्यात्मिका योगाः ? वक्ष्यमाणा अक्रोधादयः। ते हि चित्तसमाधानहेतुत्वाद् योगाः। बाह्यनिमित्तनिरपेक्षत्वाच्च अध्यात्मिकाः। तानध्यात्मिकान् योगान् **न्यायसंहितान्** उपपत्तिसमन्वितान्। ते हि क्रोधादिषु दोषनिर्घातं प्रति समर्था उपपद्यन्ते न्यायतः। **अनैश्चारिकान्** निश्चारयन्ति मनोऽन्तस्थं बहिर्विषयेभ्य इति नैश्चारिकाः क्रोधादयो दोषाः, तत्प्रतिपक्षभूता ह्येते, ते अनैश्चारिकाः। अक्रोधादिषु हि सत्सु चित्तमनिश्चरणस्वरूपं प्रसन्नमात्मावलम्बनं तिष्ठति। अतस्तान् **अनुतिष्ठेत्** सेवेत। अक्रोधादिलक्षणं चित्तसमाधानं कुर्यादित्यर्थः। तथा हि परः स्व आत्मा लभ्यते। क्रोधादिदोषापहृतचेतस्तया हि स्वोऽपि पर आत्माऽविज्ञातोऽलब्ध इव सर्वस्य यतः, अतस्तल्लाभाय योगानुष्ठानं कुर्यात्।।१।।

पुत्रवित्तादिलाभो हि परो दृष्टो लोके। किमात्मलाभेनेत्यत आह—

आत्मलाभान्न परं विद्यते।।२।।

आत्मलाभात् आत्मनः परस्य स्वरूपप्रतिपत्तेः **न परं** लाभान्तरं **विद्यते।** तथा विचारितं बृहदारण्यके—'तदेतत् प्रेयः पुत्रात्' इत्यादिना।।२।।

तत्रात्मलाभीयान् श्लोकानुदाहरिष्यामः।।३।।

सत्यं क्रोधादयो दोषा आत्मलाभप्रतिबन्धभूता अक्रोधादिभिर्निहन्यन्ते, तथाऽपि न मूलोद्धर्तनेन निवृत्तिः क्रोधादीनाम्, सर्वदोषबीजभूतमज्ञानं न निवृत्तमिति। तस्य चानिवृत्तौ बीजस्यानिवर्तितत्वात् सकृन्निवृत्ता अपि क्रोधादयो दोषाः पुनरुद्भविष्यन्तीति संसारस्यात्यन्तिकोच्छेदो न स्यात्। तद्दोषबीजभूतस्याज्ञानस्य ज्ञानादन्यतो न निवृत्तिरित्यात्मस्वरूपप्रकाशनायात्मज्ञानाय मतान्, शाखान्तरोपनिषद्भ्यः, **तत्र** तस्मिन् आत्मलाभप्रयोजने निमित्ते, आत्मानं करतलन्यस्तमिव लम्भयितुं समर्थान् **आत्मलाभीयान् श्लोकानुदाहरिष्यामः** उद्धृत्याहरिष्यामः ग्रन्थीकृत्य दर्शयिष्याम इत्यर्थः।।३।।

पूः प्राणिनः सर्व एव गुहाशयस्याहन्यमानस्य विकल्मषस्य।
अचलं चलनिकेतं येऽनुतिष्ठन्ति तेऽमृताः।।४।।

पूः पुरं शरीरं। **प्राणिनः** प्राणवन्तः। **सर्व एव** ब्रह्मादीनि स्तम्बपर्यन्तानि। प्राणिनः पुरं पुरमिव राज्ञः उपलब्ध्यधिष्ठानम्। कस्य पुरम् ? **गुहाशयस्य** आत्मनः। यथा स्वकीये पुरे राजा सचिवादिपरिवृत उपलभ्यते, एवं देहेष्वात्मा

बुद्ध्यादिकरणसंयुक्त उपलभ्यते। उपलभते च बुद्ध्यादिकरणोपसंहृतान् भोगान्। अतोऽविद्यावरणात्मभूतायां बुद्धिगुहायां शेत इति गुहाशयः। तस्य पुरम्। तस्यां बुद्धौ अविद्यादिदोषमलापनये विद्वद्भिस्त्यक्तैषणैरुपलभ्यते। इदमपरं विशेषणं गुहाशयस्य—**अहन्यमानस्य**— छेदनभेदनजरारोगादिभिर्हन्यमाने देहे न हन्यते। 'न वधेनास्य हन्यते' इति छान्दोग्ये। तस्य **विकल्मषस्य,** कल्मषं पापं तस्य नास्तीति विकल्मषः। सर्वं ह्यविद्यादोषसहितं धर्माधर्माख्यं कर्म कल्मषं भवति, विकल्मषस्येति विशेषणेन प्रतिषिध्यते; तत्कार्यं जरारोगादिदुःखरूपम् **अहन्यमानस्येति।** एवं हेतुफलसंबन्धरहितस्यासंसारिण उपलब्ध्यधिष्ठानं पूः सर्वे प्राणिनः। अतो न संसार्यन्योऽस्ति। 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' इति श्वेताश्वतरे। 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते' इति च काठके। 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ' इत्यादि वाजसनेयके। 'स आत्मा तत्त्वमसि' इति च छान्दोग्ये।

पूर्वार्धेन ब्रह्मणो याथात्म्यमुक्त्वा उत्तरार्धेन तद्विज्ञानवतस्तद्विज्ञानफलमाह—यस्य सर्वे प्राणिनः पुरं अहन्यमानस्य विकल्मषस्य तस्य सर्वप्राणिसंबन्धादर्थसिद्धमाकाशवत् सर्वगतत्वम्, 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' इति च श्रुतेः। सर्वगतस्य चाचलत्वमर्थसिद्धमेव। तम् **अचलं चलनिकेतं** चलायां हि प्राणिगुहायां स्वयं शेते तमचलं चलनिकेतम्। **येऽनुतिष्ठन्ति** ममात्मेति साक्षात्प्रतिपद्यन्ते, **तेऽमृताः** अमरणधर्माणो भवन्ति।।४।।

कथं तदनुष्ठानमिति ? उच्यते—

यदिदमिदिहेदिह लोके विषयमुच्यते।
विधूय कविरेतदनुतिष्ठेद् गुहाशयम्।।५।।

यदिदं प्रत्यक्षतोऽवगम्यमानं स्त्र्यन्नपानादिसंभोगलक्षणम्। **इदिति** किञ्चिदर्थे यत्किञ्चिदिदं प्रत्यक्षम्। **इह** अस्मिन् **लोके। विषयम्** इदंशब्दसामानाधिकरण्यात् नपुंसकलिङ्गप्रयोगो 'विषयमि'ति। लिङ्गव्यत्ययो वा द्रष्टव्यः। छान्दसो वा प्रयोगो 'विषयमि'ति। उभयलिङ्गो वा विषयशब्दः। द्वितीय **इच्छब्द इहशब्दश्च**। तयोः क्वचिन्नियोगः। **इच्छब्दश्चार्थे। इहशब्दोऽमुष्मिन्नर्थे। लोकशब्दः** काकाक्षिवदुभयत्र सम्बध्यते—इह लोके, इह च लोके अमुष्मिंश्च यदिदं विषयमुच्यते। स्वर्गादिलोके पार्श्वस्थमध्यस्थो व्यपदिशति 'इहलोक इह च लोक' इति। तत्सर्वं **विधूय** परित्यज्य। **कविः** क्रान्तदर्शी मेधावीत्यर्थः। फलं साधनं च तद्विधूय एषणात्रयात् व्युत्थायेत्यर्थः। **अनुतिष्ठेद् गुहाशयं** यथोक्तलक्षणमात्मतत्त्वम्।।५।।

तत् क्वानुष्ठातव्यमिति ? उच्यते—

आत्मन्नेवाहमलब्ध्वैतद्धितं सेवस्व नाहितम्।
अथान्येषु प्रतीच्छामि साधुष्ठानमनपेक्षया।
महान्तं तेजस्कायं सर्वत्र निहितं प्रभुम्।।६।।

आत्मन्नेव आत्मन्येव। प्रत्यगात्मा हि परमात्मा। सर्वं ह्यत्रानुष्ठेयम्। यदि देहादन्यत्रानुष्ठीयेत सोऽनात्मा कल्पितः स्यात्। तस्मात् देहादिसंघाते आत्मन्येव, विधूय बाह्यासङ्गं गुहाशयमात्मतत्त्वमनुष्ठेयम्। किमन्येष्वननुष्ठेयमिति भगवतो मतम् ? बाढम्; प्रथममेव नान्येष्वनुष्ठेयमात्मतत्त्वम्। कथं तर्हि ? सर्वप्रयत्नेनापि स्वदेहादिसंघाते यथोक्तमात्मतत्त्वं न लभेत, **अथाहमन्येषु** आदित्यादिषु **प्रतीच्छामि** अभिवाञ्छामि। **साधुष्ठानं** साधोः परमात्मनः उपलब्धिस्थानं, यत्र गुहाशयं ब्रह्मतत्त्वमनुष्ठेयम्। **अनपेक्षतया** अन्यत् पुत्रवित्तलोकादिसुखं हित्त्वा निःस्पृहतया। न ह्यात्मानुष्ठानं बाह्यार्थाकाङ्क्षा च सह संभवतः। कस्मात्पुनरनेकान्यन्यानि हितप्रकाराण्यनपेक्ष्य आत्मानुष्ठानमेव यलत आस्थीयत इत्यत आहाचार्यः—यथाऽन्यान्यहितानि हितबुद्ध्या परिगृहीतानि न तथैवमात्मसेवनम्। किं तर्हि ? तद् हितमेव। **तस्मात् सेवस्वेति।**

किंविशिष्टश्चात्मा सेवितव्य इत्याह—**महान्तं** अमितान्तं अनन्तरत्वादबाह्यत्वाच्च महानात्मा तं महान्तम्। गुणैर्वोपाधिसहचारिभिर्महान्तम्, बृंहणमिति यद्वत्। **तेजस्कायं** तेजश्शरीरमित्यर्थः, चैतन्यात्मज्योतिःस्वरूपम्। तद्धि तेजसां तेजः, 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति श्रुतेः। **सर्वत्र** सर्वदेहेषु ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु, **निहितं** स्थितम्, उपलब्धिस्वरूपेणाभिव्यक्तमित्यर्थः। न हि ब्रह्मणोऽभिव्यक्तिर्निमित्तत्वव्यतिरेकेण कस्यचिदाधारत्वसंभवः। निराधारं हि ब्रह्म, सर्वगतत्वोपपत्तेः। **प्रभुं** प्रभवति सर्वानीश्वरान् प्रति, अचिन्त्यशक्तित्वात्। एवमाद्यनन्तगुणविशिष्टमात्मानं सेवस्वेति।।६।।

सर्वभूतेषु यो नित्यो विपश्चिदमृतो ध्रुवः।
अनङ्गोऽशब्दोऽशरीरोऽस्पर्शश्च महाञ्शुचिः।
स सर्वं परमा काष्ठा स वैषुवतं स वैभाजनं पुरम्।।७।।

विशिष्टमात्मानं **सेवस्वेति** क्रियापदमनुवर्तते। किं च, **सर्वभूतेषु** ब्रह्मादिष्वनित्येषु **यो नित्योऽविनाशी। विपश्चिन्मेधावी**, सर्वज्ञ इत्यर्थः। **अमृतोऽत** एव, यो ह्यनित्योऽसर्वज्ञः स मर्त्यो दृष्टः; अयं तु तद्विपरीतत्वादमृतः। **ध्रुवः** अविचलः; निष्कम्पस्वभाव इत्यर्थः। **अनङ्गः** स्थूलशरीररहित इत्यर्थः। स्थूले हि शरीरे शिरआद्यङ्गानि सम्भवन्ति। **अशरीर** इति लिङ्गशरीरवर्जित इत्येतत्। **अशब्दः** नास्य शब्दगुणः संभवति। शब्दविद्धि सन्, अन्यथा शब्दात्मकः शब्दात्मकमेव विजानीयात्। न चैतदस्ति, अतोऽशब्दः। तथा **अस्पर्शः**। आकाशवायुभूतद्वयगुणप्रतिषेधेन शब्दादयो गन्धावसानाः सर्वभूतगुणाः प्रतिषिद्धा वेदितव्याः। तत इदं सिद्धमाकाशादपि सूक्ष्मत्वम्। शब्दादिगुणबाहुल्याद्वाय्वादिषु स्थौल्यतारतम्यमुपलभ्यते। शब्दादिगुणाभावात् निरतिशयसूक्ष्मत्वं सर्वगतत्वादि चाप्रतिबन्धेन धर्मजातं तर्केणापि शक्यं स्थापयितुम्। **महान्** , अत एव **शुचिर्निरञ्जनः**। अथवा **शुचिः** पावन इत्यर्थः। शुचि हि वस्तु पावनं दृष्टम्। यथा लोके वाय्वग्न्यादि।

किञ्च य आत्मा प्रकृतः **स सर्वम्** 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इति हि वाजसनेयके। न ह्यात्मव्यतिरेकेण किञ्चिन्निरूप्यमाणमुपपद्यते। अत एव **परमा** प्रकृष्टा **काष्ठा** अवसानम्, 'सा काष्ठा सा परा गतिः' इति काठके, संसारगतीनां अवसानं निष्ठा समाप्तिरित्यर्थः। स **वैषुवतं** मध्यं सर्वस्य, सर्वान्तरश्रुतेः। विषुवत्सु वा दिवाकीर्त्येषु मन्त्रेषु नित्यं प्रकाश्यं भवतीति **वैषुवतः** स परमात्मा। ननु—'स सर्व परमा काष्ठा स वैषुवतम्' इत्युक्तम्। कस्मात्पुनस्तदात्मतत्त्वं विभक्तमुपलभ्यत इति—? उच्यते। स परमात्मा **वैभाजनम्**; विभक्तिर्विभजनं विवेक आत्मनो यस्मिन् देहे क्रियते तत्। विभाजनमेव वैभाजनम्। आत्मनो विवेकोपलब्ध्यधिष्ठानं हि शरीरम्। तञ्चानेकधा विभक्तम्। तदुपाध्यनुवर्तित्वाद् वैभाजनम्। सर्वथा शुद्धमेव सर्वैर्नोपलभ्यते; किं तर्हि ? विभक्तो विपरीतश्चोपलभ्यते।।७।।

तं योऽनुतिष्ठेत् सर्वत्र प्राध्वं चास्य सदाचरेत्।
दुर्दर्शं निपुणं युक्तो यः पश्येत् स मोदेत विष्टपे।।८।।

अतस्तदुपाध्यनुवर्तिस्वभावदर्शनमविद्याख्यं हित्वा विद्यया शास्त्रजनित-दर्शनेन **तं** यथोक्तलक्षणमात्मानम् **अनुतिष्ठेत् सर्वत्र** सर्वस्मिन् काले। किञ्च न केवलमनुष्ठानमात्रमस्य; **प्राध्वं** बन्धनं आत्मैकत्वरसप्रज्ञतां स्थिरां बाह्यैषणाव्यावृत्तरूपां सर्वसंन्यासलक्षणाम्। तद्धि बन्धनं विदुषो ब्रह्मणि। एवं हि बद्धो ब्रह्मणि संसाराभिमुखो नावर्तते। तस्माद् बन्धनं **चास्य सदाचरेत्**। तदनुष्ठानबन्धने सदाचरतः किं स्यादित्युच्यते—**दुर्दर्शं** दुःखेन ह्येषणात्यागादिना स दृश्यत इति दुर्दर्शम्। **निपुणं**, यस्माद्धि दुर्दर्शं तस्मान्निपुणम्। अत्यन्तकौशलेन समाहितचेतसा **युक्तो यः पश्येत्** साक्षाद् **उपलभेत** अहमात्मेति, **स मोदेत**, एवं दृष्ट्वा हर्षमानन्दलक्षणं प्राप्नुयात्। **विष्टपे** विगतसन्तापलक्षणेऽस्मिन् ब्रह्मणीत्यर्थः।।८।।

आत्मन् पश्यन् सर्वभूतानि न मुह्येच्चिन्तयन् कविः।
आत्मानं चैव सर्वत्र यः पश्येत् स वै ब्रह्मा नाकपृष्ठे विराजति।।९।।

किञ्च **आत्मन् पश्यन्** आत्मनि पश्यन् उपलभमानः। **सर्वभूतानि** सर्वाणि भूतानि; सर्वेषां भूतानामात्मस्वरूपतामेव पश्यन्नित्यर्थः। **सर्वत्रात्मानं च** परम्। **न मुह्येत्** मोहं न गच्छेत्। न ह्यात्मैकत्वदर्शिनो मोहावतारः। 'तत्र को मोहः' इति च मन्त्रलिङ्गात्। कीदृग्विशिष्टमात्मदर्शनं मोहनिबर्हणमित्याह—**चिन्तयन्** उपसंहृतकरणः **कविः** मेधावी सन् ध्यायमानः। न शब्दजनितदर्शनमात्रेण मोहापगमः। सर्वभूतेष्वनुप्रविष्टमेकं संव्यवहारकाले यो हि युक्तः पश्येत् **स वै ब्रह्मा** ब्राह्मणः **नाकपृष्ठे** सुखराशौ ब्रह्मणि **विराजति** विविधं दीप्यते।।९।।

निपुणोऽणीयान् बिसोर्णाया यः सर्वमावृत्य तिष्ठति।
वर्षीयांश्च पृथिव्या ध्रुवः सर्वमारभ्य तिष्ठति।
स इन्द्रियैर्जगतोऽस्य ज्ञानाद्
अन्योऽनन्यस्य ज्ञेयात्परमेष्ठी विभाजः।
तस्मात्कायाः प्रभवन्ति सर्वे
स मूलं शाश्वतिकः स नित्यः।।१०।।

किञ्च **निपुणः** सर्ववित् **अणीयान्** अणुतरो **बिसोर्णाया** बिसतन्तोरपि। कोऽसौ ? **यः** प्रकृत आत्मा **सर्वं** समस्तं जगदावृत्य संव्याप्य **तिष्ठति**। किञ्च **वर्षीयान्** वृद्धतरः स्थूलतरश्च **पृथिव्याः**। सर्वात्मको हि सः। **ध्रुवः** नित्यः **सर्वं** कृत्स्नम् **आरभ्य** संस्तम्भनं कृत्वा **तिष्ठति** वर्तते 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा' इति मन्त्रलिङ्गात्। स सर्वेश्वरः सर्वज्ञ एको विज्ञेय इत्यर्थः।

स परमात्मा, **इन्द्रियै**र्जन्यते यज्ज्ञानं **जगतोऽस्य**, तस्माज्ज्ञानादन्यो विलक्षणः, लौकिकज्ञानादन्य इति विशेषणाज्ज्ञानात्मक इत्येतत् सिद्धम्। 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' इति च श्रुतेः। अस्य जगत इन्द्रियजन्यज्ञानादन्य इत्युक्तम्। अतश्च तद्व्यतिरिक्तं जगदिति प्राप्तम्; अतस्तन्मा भूदित्याह—**अनन्यस्य** अपृथग्भूतस्य जगतः, **ज्ञेयात्** ज्ञातव्यात् परमार्थस्वरूपाद्व्यात् परमेश्वरात् घटादेरिव मृदः। स च **परमेष्ठी** परमे प्रकृष्टे स्वे महिम्नि हृदाकाशे अवस्थातुं शीलमस्येति परमेष्ठी। स्वयमेव **विभाजः** विभक्तो देवपितृमनुष्यादिना ज्ञातृज्ञेयज्ञानभेदेन च, यस्मात् स एव ज्ञेय आत्मा स्वतो विभजति जगदनेकधा। **तस्माद्** एवात्मनः **कायाः** शरीराण्याकाशादिक्रमेण **प्रभवन्ति सर्वे** ब्रह्मादिलक्षणाः। अतो **मूलं स** जगतः, 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इति श्रुतेः। अत एव स **शाश्वतिकः**। यो हि पृथिव्यादिविकारः सोऽबादिक्रमेण विनश्येत्, परं मूलकारणमापद्यते, सोऽशाश्वतिकोऽनित्यः। अयं चात्मा परं मूलम्। न तस्याप्यन्यन्मूलमस्ति, यतो जातो विनश्येत्, मूलमापद्येत, ततस्तद्विलक्षणत्वात् **शाश्वतिकः** शश्वदेकरूपः। अतो **नित्यः** एकत्वमहत्त्वमूलत्वेभ्यश्च।।१०।।

एवं यथोक्तमात्मानं विदितवत आध्यात्मिका योगा न्यायसहिता अप्रतिबन्धेन भविष्यन्ति। मिथ्याप्रत्ययपूर्वका हि दोषाः। दोषनिमित्तश्च धर्माधर्मजनितः संसारः दोषनिवृत्तौ अत्यन्तं विनिवर्तत इत्येतमर्थं दर्शयिष्यन्नाह—

दोषाणां तु निर्घातो योगमूल इह जीविते।
निर्हत्य भूतदाहान् क्षेमं गच्छति पण्डितः।।११।।

दोषाणां तु क्रोधादीनां **निर्घातः** विनाशः। योगा अक्रोधादयः, तन्मूलः तन्निमित्त इत्येतत्। अक्रोधादिषु सत्सु प्रतिद्वन्द्विनो दोषा दुर्बलत्वान्निर्हन्यन्ते।

इह जीवित इति दोषप्रभवकर्मनिमित्तत्वाज्जीवितस्य देहधारणावसानो दोषव्यापार इत्येतद् दर्शयति तत्प्रतिपक्षेष्वक्रोधादिषु कथं नु नाम मुमुक्षवः प्रयत्नातिशयं कुर्युरिति।

योगदोषयोरितरेतरविरोधित्वे सति स्थितिगतिवद् योगेभ्यो दोषाणामेव निर्घातः, न पुनर्विपर्यय इत्येतत् कथमिति चेद् ? उच्यते। सम्यग्दर्शनसचिवत्वात् बलवन्तो योगाः मिथ्याप्रत्ययसचिवत्वाद् दुर्बलत्वाद् निर्हन्यन्ते निहन्तीत्येतदप्युक्तम्। बुद्धिबलवद्ध्यस्तद्धीनानां लोके निर्घातो दृष्टः। 'अक्रोधनः' (१/१/२३) 'क्रोधादींश्च' (१/११/२५) इति लिङ्गात्। **निर्हत्य** अपहृत्य। **भूतदाहान्** दोषेषु ह्युद्भूतेषु भूतानि दह्यन्त इव अग्निना परितप्यन्ते। अतो भूतदाहा दोषा उच्यन्ते, तान् निर्हत्य। **क्षेमं** निर्भयं मोक्षं **गच्छति** 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन', 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि', 'न भवति विदुषां ततो भयम्' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः। न दोषप्रशममात्रेणाब्रह्मविदः क्षेमप्राप्तिरित्याह—**पण्डित** इति। ब्रह्मविदि ह्यत्र पण्डितशब्दः प्रयुक्तः, न शास्त्रविदि 'तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य' **इति** श्रुतेः, इहात्मविद्याधिकारात्।

यदि तर्हि दोषनिर्हरणं पण्डितोऽप्यपेक्षेत्, तं प्रति न हि ब्रह्मविद्या क्षेमप्राप्तिनिमित्तम्। यदि ब्रह्मविद्यैव क्षेमप्राप्तिनिमित्तम्, ब्रह्मविद्यानन्तरमेव न दुःखमुपलभेत ?

नैष दोषः। उक्तो ह्यत्र परिहारः—सम्यग्ज्ञानबलावष्टम्भाद् बलिनो योगा दुर्बलान् दोषान् मिथ्याप्रत्ययभवान् निहन्तुमलमिति। तस्मात् ब्रह्मविद्ययैव क्षेमप्राप्तिः। अन्यथा दोषनिर्हरणकर्मक्षययोरसंभवात्।।

विद्यया चेत् दोषनिर्हरणकर्मक्षयावश्यं भवतः, तत इदमयत्नकार्यत्वात् दोषनिर्हरणस्य नित्यानुवादरूपमनर्थकं 'निर्हत्ये'ति ? न, प्रवृत्तकर्माक्षिप्तत्वात् दोषाणाम्। द्विविधानि ह्यनेकजन्मान्तरकृतानि कर्माणि, फलदानाय प्रवृत्तान्यप्रवृत्तानि च। यत्तु प्रवृत्तं कर्म तेनाक्षिप्ता दोषाः कर्तुः सुखदुःखादिफलदानाय, दोषाभावे फलारम्भकत्वानुपपत्तेः। न हि रागद्वेषादिशून्ये सुखदुःखे प्रवृत्तिलब्धिः कदाचित् कस्यचिदिह दृश्यते। तस्मात् फलदानाय प्रवृत्तेन कर्मणा आक्षिप्ता दोषाः प्रसङ्गेन प्राप्तबला यत्नतो निर्हर्तव्याः, प्रवृत्त्याधिक्यहेतुत्वप्रसङ्गात्। अत एवेदमुक्तम्—'दोषाणां तु निर्घातो योगमूल इह जीविते' इति।।

मन्दमध्यमोत्तमविद्यापेक्षत्वाच्च। ब्रह्मविदामपि न सर्वेषां समा ब्रह्मप्रतिपत्तिः, विवेकातिशयदर्शनात् कस्यचित्, 'एष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' इति श्रुतेः, 'सम्यग्दर्शनसंपन्नः' इति च स्मृतेः। मन्दमध्यमब्रह्मविदपेक्षया त्यागवैराग्येन्द्रिय-जयविधेरर्थवत्त्वम्। उत्तमब्रह्मविदां त्वर्थप्राप्तमेतत् सर्वमित्यनुवादमात्रम्। 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' इति वचनात्, गुणातीतलक्षणवचनेभ्यश्च।

प्रवृत्तकर्माक्षिप्तदोषात् तज्जनितचेष्टाभ्यश्च भवति विदुषोऽपि देहान्तरोत्पत्तिरिति चेत् ? मुक्तेषुवत् प्रवृत्तकर्माक्षिप्तत्वात् विद्वद्दोषचेष्टानां प्रवृत्तकर्मोपभोगेनैवोपक्षीणशक्तित्वात् प्रयोजनान्तराभावाच्च न जन्मान्तरारम्भ-कत्वमुपपद्यते। यद्यप्रवृत्तं कर्म, ततः स्वावस्थमेव ब्रह्मविद्याहुताशन-दग्धबीजशक्तित्वान्नालं जन्मान्तरारम्भाय, 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि', 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः। अतः सिद्धा पण्डितस्य दोषनिर्हरणात् क्षेमप्राप्तिः।।११।।

अथ भूतदाहीयान् दोषानुदाहरिष्यामः।।१२।।

क्रोधो हर्षो रोषो लोभो मोहो दम्भो द्रोहो मृषोद्यमत्याशपरीवादावसूया काममन्यू अनात्म्यमयोगस्तेषां योगमूलो निर्घातः।।१३।।

तत्र **क्रोधः** ताडनाक्रोशनादिहेतुः अन्तःकरणविक्षोभो गात्रस्वेदकम्प-नादिलिङ्गः। **हर्षः** तद्विपरीतः अभीष्टलाभजनितः बाष्परोमाञ्चनादिलिङ्गः। **रोषः** अनिष्टविषयो मानसो विक्रियाविशेषः। **लोभः** परद्रव्येप्सा स्वद्रव्याविनियोगस्तीर्थे। **मोहः** कार्याकार्याविवेकिता। **दम्भ** आत्मनो धार्मिकत्वप्रकाशनम्। **द्रोहः** परानिष्टचिकीर्षा। **मृषोद्यं** अनृतवचनम्। **अत्याशपरीवादौ; अत्याशोऽतिमात्रमशनम्। परीवादोऽसमक्षं परदोषाभि-धानम्। असूया** परगुणेष्वक्षमा। **काममन्यू, कामः** स्त्रीव्यतिकराभिलाषः। **मन्युः** तद्विघातकृत्सु द्वेषः। **अनात्म्यं** अनात्मवत्ता। एष क्रोधादिः **अयोगः,** असमाधानलक्षणो ह्येष चेतसो विक्षेपप्रकारः। तेषां **योगमूलो निर्घातः।।१२-१३।।**

के पुनस्ते योगा इति ? उच्यते—

अक्रोधोऽहर्षोऽरोषोऽलोभोऽमोहोऽदम्भोऽद्रोहः सत्यवचन-मनत्याशोऽपैशुनमनसूया संविभागस्त्यागः आर्जवं मार्दवं

शमो दमः सर्वभूतैरविरोधो योग आर्यमानृशंसं तुष्टिरिति सर्वाश्रमाणां समयपदानि। तान्यनुतिष्ठन् विधिना सार्वगामी भवति।।१४।।

अक्रोधः अहर्षः इत्येवमाद्या अयोगविपरीताः। अतस्ते समाधि-लक्षणत्वात् योगाः। **संविभागः** आत्मनो यात्रासाधनस्यार्थिभ्यः संविभजनम्। **त्यागः** दृष्टादृष्टेष्टभोगानां शक्तितः परित्यजनं, तत्साधनानां च। **आर्जवम्** ऋजुता, अदुष्टाकलनपूर्विका वाङ्मनःकायानां प्रवृत्तिः। **मार्दवं** मृदुत्वम्। **शमोऽन्तःकरणोपशमः। दमो** बाह्यकरणोपशमः। इदमन्यत् योगलक्षणं संक्षेपत उच्यते—**सर्वभूतैरविरोधो योगः।** विरोधो हि भूतानां पीडा, तदभावोऽपीडा। स एव सर्वभूतापीडालक्षणो योगः। **आर्यम्** आर्याणां भावः अक्षुद्रता। **आनृशंसम्** आनृशंस्यम् अक्रौर्यम्। **तुष्टिः** लब्धव्यस्यालाभेऽपि चेतसः प्रसन्नतयाऽवस्थानं लाभ इव। सर्वभूताविरोधलक्षणाहिंसा परिव्राजकस्यैव संभवतीत्यार्यादीनां त्रयाणामन्येषां चाविरुद्धानां सर्वाश्रमान् प्रति प्राप्तिरिति **इतिशब्दसामर्थ्यात्।** इतिशब्दस्य च प्रकारवचनत्वात् आर्यादीनि इत्थंप्रकाराणि सर्वाश्रमान् प्रति गमयति **सर्वाश्रमाणां समयपदानीति** समयस्थानानीत्येतत्, अवश्यानुष्ठेयानीत्यर्थः। **तानि** एतानि यथोक्तानि **अनुतिष्ठन् विधिना सर्वगामी** सर्वगमनशीलः, ज्ञानाभिव्यक्तिक्रमेण **भवति** मुच्यत इत्यर्थः।।१४।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ आपस्तम्बीयधर्मशास्त्रे

अध्यात्मपटलभाष्यं संपूर्णम्

मानस टाइपसैटर, ४६४८/१, २१ दरियागंज, फोन : ३२८८६१६